वि. भा. ग्रन्थमाला—२१ WI Series–21

उपनिषदों में काव्यतत्त्व

POETIC ELEMENTS IN THE UPANIṢADS

डॉ० कृष्णकुमार धवन



विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-संस्थान
होशियारपुर
१९७६

प्रकाशक-संकेतः
विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थानम्
साधु-आश्रमः (प. गृ.), होशिआरपुरम् (भारतम्)
प्रथमं संस्करणम् १९७६





FIRST EDITION, 1976

Publishers

VISHVESHVARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE
Sadhu Ashram (P.O.) Hoshiarpur (India)

भारते होश्यारपुरे वि. वै. शो. सं.-मुद्रणागारे ।
शास्त्रिणा देवदत्तेन मुद्रयित्वेदं प्रकाश्यते ॥

Printed and published by DEVA DATTA Shastri,
at the V.V.R.I. Press, Hoshiarpur (Pb., India)

समर्पण

पूज्य

श्री पितृ-चरणों में

जिन्होंने

सम्पूर्ण प्रोत्साहन देकर मुझे

सुरभारती संस्कृत के

अध्ययन में प्रवृत्त

किया

विषयानुक्रमणिका

CONTENTS

अध्याय १ : अलंकार

अध्याय ४ : रस

अध्याय ५ : औचित्य

अध्याय ६ : गद्य-काव्य

परिशिष्ट

FOREWORD

I am glad to write this short Foreword to the study of the poetic elements in the Upanisads offered in the following pages by Dr K. K Dhavan The literary approach to the Vedas which has received much attention in the modern study of Sanskrit literature is, however, not something absolutely new. Brahmā is counted as the first Poet, and the Vedas, the first Poetic creations The Seers of the hymns are also called *Kavis* and the seeds of the Indian poetic theory can be traced to the *Rgveda* In the *Nirukta,* Yāska and, before him, Gārgya, considered the words conveying simile and the concept of simile The *Upanisads* resort as much to the simile and metaphor, and the *Vedānta-Sūtras* discuss the use of *rūpaka* in the well-known description of the body as the chariot and the soul as the charioteer. Rājaśekhara therefore declares that Poetics, which thus holds the key to the understanding of many Vedic passages, is, over and above the accepted six *Aṅgas*, the seventh *Aṅga* of Vedic exegesis.

The *Rgveda*, of course, leads in the manifestation of the poetic style and there have been several studies of the poetical aspects of the *Rks*, particularly of the similes. Some have extended this kind of study to the *Atharva-Veda* also and produced interesting results. The present work of Dr Dhavan takes the *Upanisads* for a similar analysis. Although there has been some examination of the similes of the *Upanisads,* this, I think, is the first systematic treatment of all the poetic elements in

Upanisadic writing—*Śabdālankāra*, *Upamā* and several other *Arthālankāras*, *Guna Rīti*, *Aucitya*, *Rasa* and *Dhvani*, the quality of the prose dialogues is also evaluated and the handling of metres, too, has received some attention In the end, a classified list of the similes in the *Upanisads* is also given

It is quite a painstaking work to sift and select from the ancient Upanisads passages answering precisely to the definitions of the different *Alankāras* as distinguished very much in later *Alankāra* works The author may well be congratulated for the analysis and presentation of the material and contributing to the enjoyment of the literary side of a literature which had been held in esteem all over the world as the highest peak of Indian Philosophy

V RAGHAVAN

Madras
23 11-1975

अभिनन्दन

मैं तो अपना सौभाग्य ही कहूगा कि मुझे डॉ० कृष्णकुमार धवन के ग्रन्थ **उपनिषदों में काव्यतत्त्व** को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मै वर्षो से वेद तथा उपनिषत्-साहित्य का विद्यार्थी रहा हूँ। इसलिए वैदुष्यपूर्ण उक्त निबन्ध को देखकर मुझे अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई है।

मेरी यह दृढ धारणा है कि उपनिषत्-साहित्य पर जिस सूक्ष्म दृष्टि से डॉ० धवन ने अपने विचार प्रतिपादित किए है, वे निश्चित ही सोपज्ञ है। मेरी दृष्टि मे ऐसी कोई पुस्तक नही आई जिसमे उपनिषत्-साहित्य पर प्रकृत दृष्टि से कुछ भी विचार किया गया हो। उपनिषदो के सम्बन्ध मे इस विचार का महत्त्व कई दृष्टियो से है। पता नही, सहस्रो वर्षो से दुर्भाग्य-वश हमारे देश में वैदिक साहित्य के प्रति, जिसमे उपनिषदो का प्रधान स्थान है, विद्वानो की बराबर उपेक्षा क्यो रही है? वेदो का सार्वभौम उपदेश मानवमात्र की अमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी अवस्था मे भी यह समझ मे नही आता कि हमारे सस्कृत-साहित्य मे वैदिक-साहित्य के प्रति हीनता की भावना कैसे पैदा हो गई? निम्न निर्दिष्ट पद्य को देखिए। महाभारत मे दो स्थलो पर, कुछ पाठभेद के साथ यह पद्य आता है :—

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥
(शा० प० १०१, उ० प० १३२.६)

साथ ही, विक्रमोर्वशीय का वह पद्य तो प्रसिद्ध ही है जिसमे ब्रह्मा के लिए **वेदाभ्यासजडः** कहा गया है—**वेदाभ्यासजडः कथं नु विषय-व्यावृत्तकौतूहलः।** ऐसे वचन और भी कई स्थानो पर मिलेगे।

प्रकृत गवेषणात्मक ग्रन्थ का प्रमुख महत्त्व तो यही है कि इसके द्वारा भारतीय विद्वानो की परम्परा मे भी वैदिक साहित्य के प्रति प्रायेण जो इस प्रकार की हीनबुद्धि है, उसकी निर्मूलता सिद्ध हो जाती है। इसके अनुशीलन से मुझे ऋग्वेद के दशम मण्डल की इन ऋचाओ का ध्यान मन मे आ जाता है —

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥
देवस्य पश्य काव्यं ······ ॥

इसी प्रकार सैकडो मन्त्रो मे वैदिक-साहित्य के शब्दो मे ही वेदो के साहित्यिक महत्त्व का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दो मे किया गया है। निस्सन्देह वैदिक साहित्य, जिसमे उपनिषदो का अत्युत्कृष्ट स्थान है, साहित्यिक दृष्टि से भी उसी प्रकार अपना महत्त्व रखता है जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से।

प्रस्तुत शोध-निबन्ध का एक विशिष्ट महत्त्व यह है कि इसमे साहित्य-शास्त्र की विभिन्न दृष्टियो से, बडे परिश्रम-पूर्वक, प्रधान उपनिषदो का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस अभिनव अध्ययन के कारण मेरी सम्मति मे डॉ॰ धवन के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि की पूर्वोक्त उक्ति सार्थक हो जाती है और हम उनके लिए सुमेधाः विशेषण का प्रयोग कर सकते है।

इस परिश्रम-साध्य विशिष्ट कृति के लिए मै हृदय से डॉ॰ धवन का सवर्धन करता हूँ। पूर्ण आशा है वे अपने इसी प्रकार के वैदिक अध्ययन को भविष्य मे भी जारी रखेंगे।

मङ्गलदेव शास्त्री

मङ्गल भवन,
दिल्ली—७,
१६. ९. १९७५

आमुख

वैदिक साहित्य निखिल ज्ञान-विज्ञान की अक्षय निधि है। प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इसका मानव-संस्कृति एवम् आध्यात्मिक दर्शन के विकास की दृष्टि से सूक्ष्म तथा सुविस्तृत अध्ययन किया गया है। भाषाविज्ञानवेत्ताओं एवं धर्मविज्ञान के अध्येताओं ने भी, वेदों का अध्ययन अनिवार्य समझकर, इनका पर्याप्त रूप से मन्थन किया है। इसके साथ-साथ इस कथन में भी कोई अत्युक्ति नहीं कि वेद सृष्टि का अमर काव्य भी है। इनका सौन्दर्यपक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना कि सत्य और शिव। पर इन्हें एकमात्र धर्मग्रन्थ मानने के कारण, काव्य की दृष्टि से इनका अध्ययन प्रायः उपेक्षित ही रहा है। अब विद्वानों का ध्यान शनैः-शनैः इस ओर आकृष्ट हो रहा है तथा इनमें भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न परम्पराओं के समान काव्य-परम्परा के बीज भी ढूंढे जा रहे हैं। कुछ विद्वानों द्वारा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के साहित्यिक पक्षों का अध्ययन किया भी गया है।

वेदों के समान उपनिषदों के विषय में भी अब तक यही धारणा रही है कि ये मानव-जीवन के गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक तथा आत्मिक शान्ति प्रदान करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ हैं। इनकी दार्शनिक महत्ता को विभिन्न युगों एवं विभिन्न देशों के मनीषियों ने एकमत से स्वीकार किया है। फलतः अब तक इनका अनुशीलन आध्यात्मिक दृष्टि से ही होता आ रहा है। पर, इनके सूक्ष्म अध्ययन से प्रतीत होता है कि उपनिषत्-साहित्य न केवल गम्भीर तथा उदात्त विचारों के कारण ही गौरवान्वित है, अपितु अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

यह तो सत्य है कि उपनिषद् दार्शनिक दृष्टिकोण लिए हुए है, पर उपनिषद् का ऋषि अपने दर्शन तथा चिन्तन को मूर्त्त-रूप देने एवम् उसे साधारण जिज्ञासुओं को हृदयङ्गम कराने के लिए प्रायः काव्यात्मक साधनों का प्रयोग करता है। परन्तु उपनिषदों का यह गरिमायुक्त साहित्यिक पक्ष विद्वानों के गम्भीर चिन्तन का विषय नहीं बना। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों का उदात्त दर्शन हिमालय के महामहिम-

शाली शिखर के समान विद्वानो को अभिभूत करता रहा है और इस कारण उसके अन्तस् मे प्रवाहित होने वाली काव्य-मन्दाकिनी की ओर उनकी दृष्टि ही नही गई ।

उपनिषदो मे यद्यपि प्रभुसम्मित वाक्यो की प्रधानता है, पर देखा जाय तो कान्तासम्मित वाक्यो की भी वहा कमी नही । इतना होते हुए भी, इन महान् आर्ष ग्रन्थो का काव्यगत अध्ययन कही इनकी पवित्रता को खण्डित न कर दे अथवा इनके गौरव को किसी प्रकार हानि न पहुँचा दे, सम्भवत इसलिए काव्य के रूप मे इनका अध्ययन उचित नही समझा जाता रहा । परन्तु, उपनिषदो की रचनाशैली बताती है कि ऋषित्व और कवित्व, दर्शन और कविता परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है ।

वेद ही नही, अपितु निखिल ब्रह्माण्ड भी ईश्वर का काव्य है । ऐसी स्थिति मे ईश्वर और उसकी सृष्टि के गूढ रहस्य का प्रकाशन करने वाले उपनिषद् काव्यत्व से शून्य कैसे रह सकते है ? भरतमुनि ने इसी कारण नाट्य के सभी अगो की उत्पत्ति वेदो मे ही मानी है[1] । राजशेखर ने भी त्रयी और आन्वीक्षिकी के उपरान्त साहित्य विद्या को पाचवी विद्या मानते हुए उसे चारो विद्याओ का निष्यन्द माना है तथा अलकार शास्त्र को सप्तम वेदाग भी, क्योकि इसके बिना वेदार्थ का ज्ञान सम्भव नही[2]। अत वेदो और उपनिषदो के अन्य पक्षो के अध्ययन के साथ

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदै सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एव भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मक ॥

—भा० ना०, १ १७ १८

२ पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीय । सा हि चतसृणामपि विद्याना निष्यन्द ॥

शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दोविचिति ज्योतिष च षडगानि' इत्याचार्या । उपकारकत्वादलकार सप्तममगम्' इति यायावरीय । ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगति ॥

—का० मी०, द्वितीयाध्याय, शास्त्रनिर्देश

काव्य के रूप मे भी इनका अध्ययन, इनमे निहित विचारो का पूर्णत: अधिगति के लिए नितान्त आवश्यक है। तथा च, ऋग्वेद काल से प्रवह-मान भारतीय दर्शन के विकास के अध्ययन के लिए यदि उपनिषदो का अनुशीलन अनिवार्य है, तो भारतीय काव्यपरम्परा के अध्ययन के लिए भी वह अनिवार्य नही तो उपयोगी अवश्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इसी दृष्टिकोण से ईश, केन, कठ आदि पूर्वतन एकादश उपनिषदो का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इनमे काव्यगत विविध विशेषताए अप्रत्याशित रूप से उपलब्ध हैं।

इस ग्रन्थ को छ अध्यायो मे विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय मे अलकार-सौन्दर्य का निरूपण करते हुए उपनिषदो मे उपलब्ध अनुप्रास, यमक आदि शब्दालकारो, उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारो तथा उभयालंकारो का विवेचन किया गया है। इस विवेचन के लिए आचार्य विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण को मुख्य आधार माना गया है। द्वितीय अध्याय मे पद और वाक्ययोजना की दृष्टि से उपनिषदो की भाषा और शैली की रमणीयता का गुण, रीति व पाक के रूप मे प्रति-पादन किया गया है। उपनिषदो मे ध्वनि-सौन्दर्य की भी कमी नही है। तृतीय अध्याय मे ध्वनि-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए ध्वनि के कतिपय भेदो का दिग्दर्शन कराया गया है। चतुर्थ अध्याय मे रस का विवेचन किया गया है। उपनिषदो मे मुख्यत: शान्त तथा अद्भुत रस की ही अभिव्यक्ति हुई है। अंग के रूप मे शृङ्गार की भी अभिव्यञ्जना पाई जाती है। रस के अतिरिक्त, उपनिषदो मे भावादि के दर्शन भी पर्याप्त रूप मे होते हैं। स्थान-स्थान पर ऋषि अग्नि, आदित्य आदि देवो के प्रति रति की अभिव्यक्ति करते देखे गये हैं। काव्य को सजीव एव सार्थक बनाने वाले औचित्य नामक तत्त्व का विवेचन पचम अध्याय मे किया गया है। ऋषियो ने ब्रह्म-तत्त्व तथा जीवन-दर्शन को सुस्पष्ट करने के लिए उपनिषदो मे सर्वत्र उचित पदो, वर्णो, प्रत्ययो, वाक्यो आदि का प्रयोग किया है, जिससे उनके वचनो मे प्राणप्रतिष्ठा के साथ-साथ सुन्दरता भी आ गई है।

गद्य-रचना की दृष्टि से भी उपनिषत्-साहित्य अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। औपनिषदिक गद्य उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य मे प्रचलित विविध गद्य-शैलियो का पूर्वगामी प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत-साहित्य मे प्राप्त गद्य की कथा, आख्यायिका, चम्पू आदि अनेक विधाओ एवम् उनमे

प्राप्त चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिका इत्यादि अनेक शैलियो के सुन्दर निदर्शन उपनिषदो मे प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त सम्वादात्मक (नाटकीय) शैली का भी प्रभूत प्रयोग उपनिषदो मे हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि लौकिक सस्कृत के नाटको का सम्बन्ध एकदम वेद के सम्वाद-सूक्तो से न होकर औपनिषदिक गद्य की इस नाटकीय शैली मे है। उपनिषत-साहित्य मे प्राप्त गद्य के पूर्वोक्त विविध रूपो का सोदाहरण विवेचन षष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य है।

उपनिषत् साहित्य का परिचय, काव्य के तत्त्वो का सैद्धान्तिक विवेचन तथा वैदिक साहित्य मे काव्य के तत्त्वो के मूल का प्रतिपादन उपक्रम भाग मे तथा उपनिषदो के प्रसिद्ध उपमानो, सूक्तियो एवम् उनमे उपलब्ध कतिपय लौकिक छन्दो का निर्देशन परिशिष्ट-भाग मे समाविष्ट है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलरूप मे पजाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ) द्वारा पीएच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इसके प्रकाशन के अवसर पर मैं इस शोधकार्य मे अपने निर्देशक, डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग, पजाब विश्वविद्यालय के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इस विषय मे अनुसन्धान करने की मूलप्रेरणा मुझे अपने परममित्र, साहित्यशास्त्र प्रवीण डॉ० रविशङ्कर नागर (दिल्ली) से मिली थी। तथा स, इसकी पूर्ति के निमित्त भी इनसे सतत अमित सहयोग एव प्रोत्साहन मिलता रहा। तदर्थ मैं इनका अत्यन्त ऋणी हूँ। अब तक केवल उच्च दार्शनिकता के लिए विख्यात उपनिषदो की काव्यात्मकता का उद्घाटन करने-जैसे दु साध्य कार्य मे अनेकानेक समस्याओ का उभरना स्वाभाविक था। परन्तु, सौभाग्य से इनके समाधानार्थ मुझे भाषाविद् व साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० देवीदत्त शर्मा (चण्डीगढ) तथा प्राच्य-विद्याविशारद प० इन्द्रदत्त उनियाल (होशियारपुर) से तत्परतापूर्वक सहायता प्राप्त होती रही। तदर्थ मैं इन विद्वानो का हृदय से आभारी हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशिष्ट शब्द सूची के निर्माण का कार्य श्री त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा ने तथा प्रूफ-सशोधन प्रो० रत्नचन्द्र शर्मा ने अत्यन्त मनोयोग व परिश्रम से किया है। इनका मैं किन शब्दों मे

धन्यवाद करूँ ? इसके साथ ही मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा धवन का भी धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता, जो इस दिशा में समय-समय पर मेरी प्रेरणा के स्रोत रही है।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि इस पुस्तक का FOREWORD (प्राक्कथन) भारतीय काव्य-शास्त्र के निष्णात व आधिकारिक विद्वान् पद्मभूषण डॉ० वी० राघवन् ने लिखने की कृपा की। मैं उनके प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। साथ ही मेरे इस सारस्वत-परिश्रम के अनुमोदनार्थ अभिनन्दन वेदमनीषी मुनिमेधातिथि डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने अभिव्यक्त किया। उनके बहुमूल्य विचारों तथा प्रोत्साहजनक आशीर्वाद के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

पाण्डुलिपि में अपेक्षित परिष्कारसहित सुचारु एवं सुव्यवस्थित सरणि से प्रस्तुत पुस्तक का सपादन-कार्य विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध-सस्थान के उपसचालक तथा सस्थान की शोध-ग्रन्थमालाओं के प्रधान सपादक, श्री एस० भास्करन् नायर ने किया। वस्तुत इस ग्रन्थ के वर्तमान रूप में प्रकाशित होने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। मैं उनके प्रति और अन्तत वैदिक वाङ्मय के प्रचार-प्रसारार्थ गत सात दशकों से भी अधिक समयपर्यन्त अनवरत कार्यरत विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-सस्थान के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता अंकित किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने इस पुस्तक को अपनी विख्यात वुल्नर-भारतभारती-ग्रन्थमाला (*Woolner Indological Series*) में प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकार किया।

कृष्णकुमार धवन

संस्कृत-विभागाध्यक्ष,
डी० ए० वी० कॉलेज,
चण्डीगढ,
१-१२ १९७५

नाम-संक्षेप

ABBREVIATIONS

अ० स०	=	अलङ्कारसर्वस्व
अथर्व०	=	अथर्ववेद
ईश०	=	ईशोपनिषद्
ऋ०	=	ऋग्वेद
ऐत०	=	ऐतरेयोपनिषद्
औ० वि० च०	=	औचित्यविचारचर्चा
कठ०	=	कठोपनिषद्
का०	=	काव्यादर्श
का० अ०	=	काव्यानुशासन
का० प्र०	=	काव्यप्रकाश
का० मी०	=	काव्यमीमांसा
कुव०	=	कुवलयानन्द
केन०	=	केनोपनिषद्
छा०	=	छान्दोग्योपनिषद्
तै०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
ध्व०	=	ध्वन्यालोक
ना० शा०	=	नाट्यशास्त्र
प्र० रु०	=	प्रतापरुद्रीय
प्रश्न०	=	प्रश्नोपनिषद्
बृ०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
मा०	=	माण्डूक्योपनिषद्
मु०	=	मुण्डकोपनिषद्
र० गं०	=	रसगङ्गाधर
व० जी०	=	वक्रोक्तिजीवित
व्य० वि०	=	व्यक्तिविवेक
श्वे०	=	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सा० द०	=	साहित्यदर्पण

0
उपक्रम

०.१. उपनिषत्-साहित्य का परिचय

०.१.१ वैदिक साहित्य और उपनिषद्

विश्व का प्राचीनतम साहित्य वेद है। वेद के अन्तर्गत अनेक शाखाओं में प्रचलित चार वैदिक संहिताएं और उन पर लिखे गए व्याख्यात्मक ग्रन्थ, ब्राह्मण माने जाते हैं।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भाग हैं—१ शुद्ध ब्राह्मण, जिनमें वेद-मन्त्रों की व्याख्या तथा कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। २ आरण्यक, जिनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन पाया जाता है। इसी चिन्तन का चरमोत्कर्ष आरण्यक ग्रन्थों के उपनिषत्-खण्ड में प्राप्त होता है। प्रत्येक ब्राह्मण के अन्त में आरण्यक परिशिष्ट के रूप में जुड़ा हुआ है तथा प्रत्येक आरण्यक के साधारणतया अन्त में उसका उपनिषद् सम्बद्ध है। सिद्धान्ततः प्रत्येक उपनिषद् का सम्बन्ध किसी न किसी वैदिक शाखा के ब्राह्मण से होना चाहिए।[2] इस प्रकार प्रत्येक शाखा का अपना ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् रहा होगा।

०.१.२ उपनिषद् पद का निर्वचन

उपनिषद् शब्द का साधारण अर्थ है वह विद्या जो गुरु के अत्यन्त निकट बैठ कर सीखी जाती है। इस आधार पर उपनिषद् पद का निर्वचन उप ब्रह्मसामीप्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्—इस प्रकार से किया जा सकता है। ऐतरेय-आरण्यक में भी उप-नि पूर्वक सद् धातु बैठने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद[3]।

---

१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। (आपस्तम्ब, परिभाषा ३१)

२. एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता। (मुक्तिकोपनिषद्, १.१४)

३ ऐतरेय-आरण्यक, २.२ ३

उपनिषद् यौगिक शब्द है। इसका निर्वचन कई प्रकार से किया जाता है। उपनिषद् शब्द की रचना उप+नि+षद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से होती है। षद्लृ धातु के विशरण (विनाश), गति (ज्ञान) और अवसादन (शिथिलीकरण) तीन अर्थ हैं। शंकराचार्य ने भी कठोपनिषद् की भूमिका में उपनिषद् शब्द की निरुक्ति इस प्रकार से की है—सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्-प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्य-वस्तुविषया विद्योच्यते। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादिवत्। उपनिषद् शब्द के निर्वचन के सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त निम्नोद्धृत श्लोक भी प्रसिद्ध है—

> उपनीय तमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
> निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत्॥
>
> निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम्।
> नयत्यपास्तसंभेदमतो वोपनिषद् भवेत्॥
>
> प्रवृत्तिहेतून् निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः।
> यतोऽवसादयेद् विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत्॥

०.१.३ उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की संख्या काल क्रम से धीरे धीरे बढ़ती हुई २०० से ऊपर तक आ पहुंची है। वर्णानुक्रम से अक्षमालोपनिषद् से लेकर हरम्बोपनिषद् तक लगभग २२० उपनिषद् प्राप्त हैं। परन्तु प्राचीन वैदिक शाखाओं से निकटतम तथा साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली १५-२० उपनिषदें ही उपलब्ध हैं। अन्य उपलब्ध उपनिषदें वस्तुतः अर्वाचीन साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य ने केवल निम्न १० उपनिषदों पर भाष्य लिखा है: ईश, ऐतरेय, कठ, केन, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तथा बृहदारण्यक। इनके अतिरिक्त शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में श्वेताश्वतर तथा कौषीतकी को भी उद्धृत किया है। प्राचीनता, भाषा, शैली, विषयगठन और उपादेयता के आधार पर ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर ही मुख्य व विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। अनेक विद्वानों ने इन्हीं पर भाष्य लिखा है, अतः इन्हें ही सर्वमान्यता और प्रामाणिकता प्राप्त है।

० १४ उपनिषदों का प्रतिपाद्य

पूर्वपृष्ठो मे उल्लिखित उपनिषद् शब्द की सभी व्युत्पत्तियां इसी अर्थ की बोधक है कि ब्रह्मविद्या तथा मोक्ष, जन्म-मरण अथवा ससार के बन्धन अथवा अज्ञान का उच्छेद करने वाली विद्या का नाम उपनिषद् है। अतएव वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थविशेष उपनिषद् कहलाते है। वैदिक वाङ्मय मे उपनिषदो का स्थान सबसे अन्त मे आता है, अत इन्हे वेदान्त नाम से भी अभिहित किया जाता है। वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। इसी ब्रह्मविद्या के कारण विश्व मे उपनिषदो की प्रतिष्ठा है। प्रस्थानत्रयी मे भी उपनिषदो का प्रथम स्थान है। यह अब सर्वमान्य है कि इहलोक व परलोक मे सच्ची शान्ति का मार्ग दिखाने वाली अकेली ये ही पुस्तके है। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा का परिचय, परलोक का रहस्य, उपासना की विधि, उपासना द्वारा अभ्युदय तथा नि श्रेयस की प्राप्ति, सृष्टि का रहस्य, आत्मा और परमात्मा के दर्शन का उपाय, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति—इन सब विषयो का शका-समाधान-सहित विशद विवेचन उपनिषदो मे पाया जाता है। पराविद्या और अपराविद्या के साथ कर्मवाद, ज्ञान की गरिमा, एकत्व (अद्वैत) की भावना का विश्वबन्धुत्व की भावना तथा अमृत के रूप मे निरूपण[1] और नानात्व की भावना का मृत्यु (विनाश) के रूप मे निदर्शन भी उपनिषदो मे पाया जाता है। ब्लूमफील्ड के शब्दो मे भारतीय चिन्तन का कोई भी रूप ऐसा नही, बौद्धधर्म भी नही, जो उपनिषदो से निस्सृत न हो।[2]

उपनिषद् एकमात्र दर्शन-ग्रन्थ ही नही, इनमे भारतीय सस्कृति के विभिन्न पक्षो, जीवनमूल्यो तथा नैतिक मानदण्डो के भी दर्शन होते है। तत्कालीन सामाजिक सगठन, ब्राह्मणादि का स्थान, आश्रम-व्यवस्था तथा नारी की सन्तोषजनक दशा के वर्णन के साथ यज्ञ की विश्व की प्रक्रिया के रूप मे एव श्रेष्ठ कर्म के रूप मे व्याख्या—**यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञो वै ब्रह्म, यज्ञो वै विष्णु**—भी मिलती है। कोरे वेदपाठ, जन्म-

---

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत. ॥ (ईश० ७)

२. *The Religion of the Veda*, p. 51.

गत वर्ण व्यवस्था, हिंसात्मक यज्ञवाद तथा आडम्बरशील जीवन के प्रति उपनिषद्काल में मोह न था और नाही तत्कालीन ऋषि पलायनवादी थे, इस प्रकार के क्रान्तिकारी वातावरण की सूचना भी इन ग्रन्थों से मिलती है।

अतएव, उपनिषदों को भारतीय चिन्तन, जीवन, दर्शन, सस्कृति और सभ्यता का मूल स्वीकार किया जाता है। भारतीय भक्ति पद्धति का मूल रूप भी विवेचकों ने, वैदिक सहिताओं और आरण्यकों के पश्चात, उपनिषदों को ही माना है। वस्तुत उपनिषदुत्तरकाल के जो भिन्न भिन्न विचार प्रवाह हैं, उनका उद्गम उपनिषद ही है।

० १ ५ दर्शन और कविता

वेदों के अनुशीलन से अवगत होता है कि दर्शन और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से स्पष्ट विदित होता है कि दर्शन और कविता का सगम होता है। इसे शताब्दियों के बाद उपनिषदों के ऋषियों ने देखा और कई प्रयोग भी किए। कविता तथा दर्शन दोनों कल्पना की भूमि पर पनपते हैं। अन्तर यह है कि दर्शन की कल्पना को तर्क की कसौटी पर कसा जाता है, कविता के लिए ऐसी बाध्यता नहीं। तर्क की भी कोई ऐसी बनी बनाई कसौटी नहीं है, जो सर्वत्र एक-सी काम कर सके। सम्राट् जनक को आत्मा का स्वरूप समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत । इद च परलोकस्थान च। सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थानम्। तस्मिन सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीद च परलोकस्थान च।[1]

—तमावर्णित इस पुरुष के दो स्थान हैं—इह (लोक) और परलोक। तीसरा सन्धि-स्थान है स्वप्न। उस सन्धि स्थान में खड़ा होकर (वह) इहलोक और परलोक दोनों स्थानों को देखता है।

यहा लोक और परलोक के बीच सन्धि स्थान के रूप मे स्वप्न का जो मान्यता दी गई है क्या इसे तर्क द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है? नहीं। तो इसे दर्शन कहा जाय या कविता? दर्शन

---

१ बृह० ४ ३. ९

और कविता के सन्धिस्थल पर रचित होने के कारण उपनिषदों को साहित्य की एक नई विधा के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए।

आत्मा और ब्रह्म का विषय जितना दर्शन का हो सकता है उतना साहित्य का भी। इसी प्रकार परमानन्द की उपलब्धि तथा शिवेतर की क्षति का विषय भी जितना दर्शन का है उतना काव्य का भी। दर्शनकार अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए बौद्धिक युक्तियों का सहारा लेता है तो साहित्यकार कल्पना एवं मनोवेगों का। उपनिषद्-कार की यह विशेषता है कि वह अपने गहन चिन्तन में प्रभूत गूढ़ दर्शन को सुन्दर, सुस्पष्ट व आकर्षक बनाने के हेतु उसमें काव्य की पुट भी देता है। वह यथोपलब्ध भाषा में मनानुकूल परिवर्तन करके अभीष्ट सिद्धि करता है। वह कभी शब्दों में नया अर्थ देकर, कभी दो पदों के जोड़ से नया पद बनाकर, कभी बिम्बविधान, कभी प्रतीक-योजना, कभी रूपक योजना तो कभी अप्रस्तुत योजना, कभी उपमान विधान और कभी दृष्टान्त-योजना द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन करता है। ज्योतिष् शब्द का सामान्य अर्थ तो भौतिक प्रकाश है, किन्तु ऋग्वेद ३ १० ५ तथा ७ ३३ ८ में बुद्धि अथवा ज्ञान के लिए भी आया है। उपनिषत्कार तम को अज्ञान के अर्थ में (ईश० ३ ९), अजा को प्रकृति (श्वे० ४ ५) जाल को माया (श्वे० ५ ३), हंस को परमात्मा (श्वे० ६ १५), गुहा को हृदय अथवा आत्मा (कठ० २ २०), अश्वत्थ को संसार (कठ० ६ १) के अर्थ में प्रयुक्त करके अभिप्रेत की सिद्धि करता है। बृहदारण्यक ३ ८ ८ में समस्त-व्यस्त के रूप में नञ का अत्यधिक प्रयोग करके लौकिक अनुभूति से ब्रह्मानुभूति का पार्थक्य दिखाया गया है—

स होवाच—एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व मदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवा-गमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमबाह्यम्।

ये सारे शब्द चिन्तन और भावना की नई दिशा की ओर संकेत करते हैं। इन प्रयोगों को साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

० १ ६ उपनिषदों की कला

उपनिषदों का महत्व जितना अविकल रूप से ब्रह्म, जीव और प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन करने अथवा गूढ आध्यात्मिक दर्शन के कारण है, उतना ही उन तत्वों का ऐसी शैली से प्रतिपादन करने में है जिससे उनमें रमणीयता तथा उत्तमता का आधान हो गया है। इस रीति से उन्ह अत्युच्च एव गहन विचारों को जनसाधारण तथा अपरिपक्व-बुद्धि शिष्यों तक पहुँचाने में आशातीत सफलता मिली है।

ब्रह्म क्या है ? हम क्या है ? हम कहा से आए ? हमारी स्थिति किसमें है ? हमारा पर्यवसान कहा होगा ? इत्यादि रहस्यों के सौन्दर्यपूर्ण उद्घाटन के लिए उपनिषदों के चिन्तक कवियों ने काव्य के उपकरणों का अचिन्तित रूप में ही खूब प्रयोग किया है। वे सुगूढ से सुगूढ दार्शनिक तत्वों की प्रभावी ढग से अभिव्यक्ति के लिए अनजाने में अलकृत भाषा व्यग्य ध्वनि विरोधाभास तथा आख्यान, सवाद आदि का सहज रूप म प्रयोग कर गए हैं।

पर, उपनिषदों का विषय जीवन का गहन रहस्य तथा आध्यात्मिक चिन्तन है। अत परवर्ती कालिदास भारवि, माघ आदि कवियों के समान इनम मनोवेगों का प्रवल चित्रण नहीं है और न ही इनके काव्य की शैली कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण है। उपनिषदों का काव्य रहस्यात्मक नैतिक तथा उदात्त विचारों से परिपूर्ण है। ऋषियों के अभिव्यजना-कौशल ने उनकी कृति को काव्यत्व का रूप दे दिया है। जब ऋषि ब्रह्मानुभूति की स्थिति मे होता है या सृष्टि के रहस्य को सुलझाना चाहता है, उस समय उसकी कृति में अपने आप काव्य के तत्वों का समावेश हो जाता है। छन्द की धारा प्रवाहित होती है, उपमाओं की लडी वन जाती है, भावानुरूप कोमल ललित पदयोजना हो जाती है। इस प्रकार उपनिषद् के ऋषि की कृति मे सहज काव्य का दर्शन होने लगता है।

साहित्यशास्त्री के लिए उपनिषदों की विचार सामग्री भले ही आकर्षण का विषय न हो, परन्तु वह अभिव्यक्ति, वह विधा जिसमे ऋषि ने अपने गहन चिन्तन को साकार किया, भाषा का वह परिधान जो उसने अपने विचारों को पहनाया, अवश्य ही साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है और परवर्ती साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी।

ऋषियो के इस अभिव्यञ्जन-कौशल मे अलकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य के तत्त्व अन्तर्हित है।

हम देखते है कि एक ही विचार को व्यक्त करने के लिए उपनिषदो का कवि अपनी अभिव्यक्ति को नानारूप प्रदान करता है। उसकी यह अभिव्यक्ति परवर्ती साहित्यज्ञो की दृष्टि मे कभी किसी अलकार का रूप धारण करती है, कभी रीति, कभी ध्वनि तथा कभी औचित्य का। जब ऋषि को इस तत्त्व के दर्शन होते है कि आत्मा सर्वनियन्ता है, सर्वशासक है, तो उस विचार की अभिव्यक्ति मे उपमा अलकार स्वाभाविक रूप मे घुलमिल कर प्रकट होता है तथा ऋषि के विचार को मूर्तरूप प्रदान करता है। जैसे—

अरा इव रथनाभौ सहता यत्र नाड्य ।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान ॥

—मु० २ २ ७

यह उपमा कृत्रिम तथा बाह्य नही, अपितु ऋषि के विचार का नैसर्गिक अग बन गई है जैसे कि विदग्ध रमणी द्वारा प्रयुक्त कुकुम-पीतिका आदि प्रसाधन उसके लावण्य मे घुलमिल कर तदाकार हो जाते है।

आत्मा सर्वव्यापी है, इस विचार को बोधगम्य बनाने के लिए ऋषि की अभिव्यक्ति मे विरोध अलकार सहज रूप मे आकर उसे प्राजल बना देता है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत: ॥

—ईश० ५

यदि यहा ऋषि केवल यही कह देता है कि आत्मा सर्वव्यापी है, तो उसकी वाणी मे कोई सौन्दर्य नही था। परन्तु ऋषि ने विरोध से उस भाव को कितना आकर्षक रूप दे दिया है—वह आत्मतत्त्व पास भी है और दूर भी। इस विरोध मे चमत्कार है और इससे आत्मा के सर्वव्यापित्व का रमणीय रूप मे ज्ञान होता है। इसी प्रकार—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।

—ईश० १५

मे ऋषि उपमेय का उल्लेख न करके श्रोता के मन मे कुतूहल उत्पन्न करता है। केवल उपमान (हिरण्मय पात्र) का ही उल्लेख पाठक को चमत्कृत कर देता है। यह प्रयोग रूपकातिशयोक्ति अलकार ही तो है।

उपनिषदों के ऋषियों के कुछ अन्य काव्यात्मक प्रयोग भी दर्शनीय है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

उस अक्षरय ज्योति के सामने सूर्य, चन्द्र, तारक, विद्युत् आदि ज्योतिया नगण्य है। इस भाव का यह विलक्षण काव्यमय वर्णन है।

मानव की अन्तरिक्ष में उडने की लालसा की पूर्ति के लिए बृहदारण्यक में स्वप्नावस्था का आश्चर्यकारी आश्रय लिया गया है।

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंस ॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥

—बृ० ४ ३ १२ १३

—अवरनीड की रक्षा का भार प्राण को सौंपकर नीड से बाहर विचरता हुआ यह अमृत स्वर्णहंस (अमृत आत्मा) जहां इच्छा होती है वहीं पहुँच जाता है। स्वप्नावस्था मे ऊँचे देवादि और नीचे पशु आदि भावों को प्राप्त होता हुआ आत्मा अनेक रूपों को रच लेता है। तथा स्त्रियों के साथ हर्ष मनाता हुआ सा और मित्रों के साथ हँसता हुआ सा तथा भयों को देखता हुआ प्रतीत होता है।

हस अपनी लम्बी उडान के लिए बहुत प्रसिद्ध है। वह हिमालय के उस पार से आता है और कुछ मास इधर व्यतीत करके लौट जाता है। स्वप्नकाल म आत्मा की लम्बी उडान के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान नहीं मिल सकता। ऋग्वेद म हसा की पक्तिबद्ध उडान का वर्णन आया है। पर उपर्युक्त मत्र में उपनिषद् का प्रयोग हम अधिक उपयुक्त और आकर्षक है।

एक उदाहरण साहित्यिक प्रवचन का देखिए—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २.२

—ब्रह्म को भली भाँति जानता हूँ, यह मैं नहीं मानता और न (यही मानता हूँ कि) नहीं जानता हूँ (क्योंकि) जानता भी तो हूँ। हम लोगों में जो उसे जानता है वही उसे (मेरे अभिप्राय को) जानता है कि 'मैं जानता हूँ' और 'नहीं जानता हूँ', ये (दोनों ही) नहीं हैं।

इस प्रकार के कथन का साहस कोई साहित्यिक ही कर सकता है, दार्शनिक की दृष्टि में तो ऐसा कहना वदतो व्याघात होगा। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण वर्णन निम्न मंत्र में भी है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

—केन० २ ३

जीवन का रहस्य चिन्तकों को अनादि काल से झकझोरता आया है। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए कठ के ऋषि ने एक आख्यान का सहारा लिया कि एक युवा ने मृत्यु का ही द्वार जा खटखटाया था। परन्तु रहस्य, रहस्य ही बना रहा। कठोपनिषद् के इस काल्पनिक आख्यान द्वारा कौशलपूर्ण एवं आकर्षक शैली में मृत्यु लोक की यात्रा, यम के प्रलोभन और नचिकेता द्वारा उनके दृढ़ प्रत्याख्यान, तथा सुन्दर उक्तियों के माध्यम से भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता एवं असारता तथा मृत्यु के रहस्य का वर्णन करने का सुन्दर प्रयास है। यह ऋषि की साहित्यिक प्रवृत्ति और रुचि की ओर ही संकेत करता है। ऋग्वेद में भी कुछ ऐसे सूक्त हैं, जिनमें सृष्टि के अवगुंठन को सरकाने की इसी प्रकार चेष्टा की गई है।

तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में उपनिषद्कारों ने शुष्क दार्शनिक तत्त्वों को अनेक रोचक आख्यानों द्वारा वर्णित करके उन्हें सरस और सजीव रूप प्रदान किया है। सत्यकाम जाबाल की कथा, उपस्ति-कथा, श्वेतकेतु की कथा, श्वान-कथा, दृप्त बालाकि की कथा उदाहरण रूप में देखी जा सकती है।

उपनिषदों के ऋषि शब्दों की आत्मा से परिचित थे और उन का औचित्यपूर्ण विधि में प्रयोग करने में निपुण भी। देखिए—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

—कठ० १ २६

इस मन्त्र मे श्वोभावा (जो कल तक भी नहीं टिके रह सकते) पद का कितना सुन्दर और उचित प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोग स्वत ही साहित्यिक कोटि मे स्थान पाने के अधिकारी हो गए है। इसी प्रकार—

> ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
> तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
> तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥
> —कठ ६ १

इस मन्त्र मे सर्वोपरि ब्रह्म के विवेचन म ब्रह्म का ऊर्ध्व शब्द मे तथा ससार को अश्वत्थ वृक्ष के रूप म और अहङ्कारादि तत्त्वो का अपकृष्टताद्योतन अवाक्शाख शब्द म वर्णित किया गया है।

जनसाधारण को जिस प्रकार अपनी बात समझाई जाय, इस कला मे ऋषि कुशल थे। उन्हे वृक्ष म ब्रह्म व ससार के दर्शन हुए। ससार ब्रह्म का ही फैला हुआ रूप है तथा ब्रह्म उसका मूल है। इसे समझाने क लिए उन्होने उपयुक्त मन्त्र म वृक्ष को उपमान के रूप म ले लिया। जिस प्रकार बिम्ब म प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब का अस्तित्व नही, उसी प्रकार परमात्मा म अनग अन्त करणावच्छिन्न चेतन का कोई अस्तित्व नही, इस तत्त्व को आलकारिक भाषा द्वारा प्रभावपूर्ण रीति मे समझाया गया है। इस काव्यमय रीति क अवलम्बन म ही दार्शनिक तत्त्वो की हृदयहारिणी अभिव्यक्ति हुई है।

जैसाकि ऊपर सकेत किया गया है, दृश्यमान सृष्टि व अदृश्य स्रष्टा की मुख्य समस्या का चिन्तन और समाधान ही उपनिषदो का विषय है। इसे स्पष्ट करने और तत्त्वज्ञान हृदयगम कराने के लिए ऋषियो न प्राकृतिक दृश्यो व ऐहिक कार्यकलाप के माध्यम से ऐसी काव्यमयी पद्धति को अपनाया है कि अव्यक्त तत्त्व तथा अमूर्त भाव सामने आ खड़े प्रतीत होते हैं। कठोपनिषद् के ऋषि ने ब्रह्म को किसी यात्री क गन्तव्य स्थान की तरह माना है, जिसकी प्राप्ति के लिए साधक को अनेक साधना की आवश्यकता होती है। कोई रथी यदि यात्रा करे, तो उसे सारथि, रथ, घोडे, लगाम आदि अनेक साधन

चाहिए, तभी वह गन्तव्य तक पहुँच सकता है। इस व्यावहारिक ज्ञान का उपयोग ऋषि ने रूपक बाँध कर किया है—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
> ... ... ॥
>
> —कठ० ३. ३-४

इस रूपकमय दृष्टान्त की प्रेरणा का स्रोत यजुर्वेद का यह मंत्र हो सकता है—

> सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
> हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
>
> —यजु० ३४ ६

एक वृक्ष पर बैठे पक्षियों को ऋषि ने जीव और ब्रह्म के व्यवहार के रूप में देखा और प्रकृति से प्रभावित लौकिक कवि के समान उस दृश्य को चित्रवत् प्रस्तुत कर दिया तथा अन्यथा अगम्य तत्त्व को गम्य भी बना दिया—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
>
> —मु० ३. १ १

जीव अपने कर्मों की समाप्ति पर निर्विकार परमात्मा में मिल जाता है। इस अवस्था में उसका अपना अस्तित्व शेष नहीं रहता, वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। इस दार्शनिक विचार को मुण्डक के ऋषि ने नदी के प्रवाह तथा समुद्र की उपमा से प्रस्तुत किया है—

> यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
> तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
>
> —मु० ३ २. ८

उपनिषद् के ऋषियों ने ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसी में ब्रह्म की व्याप्ति को समझाने के लिए, अपने मुख से निकले तन्तुओं का जाल बना कर उसी में अपने को लिपटा लेने वाली, मकड़ी के दृष्टान्त से बताना उचित समझा है—

> स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव-मेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि
>
> —बृ० २ १ २०

निम्न मन्त्र मे ऋषि ने ब्रह्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मजिज्ञासुरूपी लक्ष्यवेधक की कल्पना की है, और उत्तम धनुष व तीक्ष्ण बाणो के साथ वेध-चातुर्य का भी उसी प्रकार के उपमानो मे विधान किया है—

> धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र शर ह्युपासानिशित सधयीत ।
> आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्य तदेवाक्षर सोम्य विद्धि ॥
>
> प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
>
> —मु० २ २ ३-४

यहा, रूपक अलकार की सहायता से, ब्रह्मजिज्ञासु कुशल धनुर्धारी के रूप मे सन्नद्ध होकर अपने लक्ष्य मे रमा हुआ प्रत्यक्ष-सा दीख रहा है।

छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के १२ वे खण्ड मे शौव उद्गीथ (श्वान-कथा) मे एक बडा कटाक्षपूर्ण प्रसग है। इस कथा का सम्बन्ध भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से मन्त्रोच्चारण करने से है। इसका अभिप्राय उन मन्त्रोद्गाताओं का उपहास करना प्रतीत होता है जो किसी न किसी भौतिक पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा से ही मन्त्रगायन करते थे। यह कथा आधुनिकतम साहित्यिक विधा विद्रूपिका (Parody) का मूल प्रतीत होती है। इस विद्रूपिका के द्वारा ऋषि साहित्यिक शैली मे भौतिकता पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठता स्थापित कर रहा है।

उपनिषदो म कविता क प्राण सवेदनशीलता के भी दर्शन होते है। मुण्डकोपनिषद् सवेदनशील रचना का सुन्दर उदाहरण है।

उपनिषदो के अनेक गद्यात्मक भाग भी ऐसे है जो भावप्रवणता की दृष्टि म उच्चकोटि की कविता प्रतीत होते है। इनमे, प्राय पद्य मे दृश्यमान भावुकता और उर्वर कल्पना उभर कर आई है। उदाहरण के रूप मे निम्न गद्यभाग दर्शनीय है—

> असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचय पुत्रा । तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्प ता अमृता आपस्ता वा एता ऋच ।

...... अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः। ... अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः। ... अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वांगिरस एव मधुकृत इतिहास-पुराणं पुष्पं ता अमृता आपः। ... अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः। ... अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः।

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद।

—छा०, प्रपाठक ३, खण्ड १ से ११ तक

आदित्योपासना का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—निश्चय से यह सूर्य देवों का मधु है, द्यौ—आदित्यलोक—ही तिरछा वंश है, मधुछत्ता लगने का स्थान है। अन्तरिक्ष मधु कोश है और किरणें उसके पुत्र (भ्रमरियां) हैं। इनके द्वारा वह मधुसंचय करता है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में फैली जो किरणें हैं, वे ही इसकी मधुनाड़ियां हैं। चारों वेदों की ऋचाएं मधुमक्खियां हैं, और वेद पुष्प हैं जिनका वे रस संचित करती हैं। ... सूर्य के रक्त, श्वेत, कृष्ण आदि वर्ण ही विभिन्न प्रकार के अमृत हैं, जो देवों के जीवन का आधार हैं।

यहां ऋषि ने रूपक के द्वारा आदित्यवर्ण, सवितारूप परमात्मा के आनन्दमय रूप का हृदयावर्जक निरूपण किया है। इस गद्य खण्ड को उच्चकोटि की पद्यमय कविता के समकक्ष माना जा सकता है।

ठीक है कि उपनिषदों में प्रकृति-काव्य (nature poetry) अथवा प्रेम-काव्य नहीं है, अतः इनमें कविता का सत्य और शिव पक्ष ही प्रबल है। सुन्दर का औपनिषदिक विचारधारा के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं है, न ही वह उपनिषदों के क्षेत्र में इतना आता है। परन्तु उपनिषदों में प्रकृति तथा मानसिक प्रदेश के उदात्त रूप और लोकोत्तर जगत् का सुन्दर एवं विशद वर्णन है, जो इन्हें बरबस ही काव्य की कोटि में ला बिठाता है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अज्ञात शक्ति का स्पर्श अथवा साक्षात्कार गूढ दर्शन के द्वारा किया जा सकता है, तो कविता उस मे सहायक है। उपनिषद इस तथ्य का प्रत्यायक उदाहरण है। इनमे प्रवचन, सवाद, वादविवाद, आख्यान प्रश्नोत्तर, गद्य, पद्य आदि विविध साहित्यिक विधाओं का यथावसर उपयोग किया गया है। भाव की सुन्दर एव सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए बाद में उपमा, दृष्टान्त, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलकार कहे जाने वाले तथा गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि नामों से अभिहित काव्य के तत्त्वों का भी उनमें समावेश है। इस प्रकार काव्य के प्राय सभी उपकरण उपनिषदों में दृष्टिगोचर होते है, चाहे सर्वथा उस रूप में नहीं जो शतियों बाद लक्षणग्रन्थो मे निर्धारित हुए।

उपनिषद्कारों की वाणी में जो तथाकथित अलकार, माधुर्य आदि गुण आज हमे दिखाई देते है वे तो ऋषि की केवल अभिव्यक्ति की विधाए है जो उनके गहन विचारों को सरलता तथा सुन्दरता में पाठक के हृदय में उतार देती है। इन विधाओं के प्रयोग से उसकी अभिव्यक्ति न केवल सरल व सरस हुई है, अपितु उसमें शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता भी आ गई है। जब ऋषि के सामने कोई दार्शनिक समस्या आती है, वह ब्रह्माण्ड के रहस्य को सुलझाना चाहता है, तब बिना प्रयास के ही और अनजान में ही उसकी वाणी में अलकार उभरने लगते है। ये अलकार उसके विचार को विशद करते है, उसके अनुकूल होते है और उसके दार्शनिक चिन्तन की धारा के साथ मिल कर प्रवाहित होते है। जब ऋषि का मस्तिष्क किसी गहन विचार मे तल्लीन हो जाता है, तब उसकी अभिव्यक्ति भी प्रबल हो उठती है और वह साहित्यिक रूप धारण कर बह निकलती है।

इस प्रकार उपनिषद सहज काव्य है, कृत्रिमता का उसमे लेश भी नहीं। अलकार, गुण, रीति आदि सभी ऋषि की अभिव्यक्ति का अयाचित उपकरण बने है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे इसी दृष्टि से उपनिषदों का काव्य के तत्त्वो के आधार पर अध्ययन किया गया है।

०.२. काव्य के तत्व

०.२.१. विषय-प्रवेश

काव्य का प्रभाव सीधा हृदय पर भिन्न-भिन्न रूप मे पड़ता है। अत इसका निष्कृष्ट लक्षण परिभाषित करना साहित्यशास्त्र के आचार्यों के लिए सदा ही कठिन रहा है। काव्य के दो प्रमुख तत्त्व है—(१) अनुभूति और (२) उसके सम्प्रेषण का माध्यम—शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा। आचार्य भट्टतौत जब कहते है **दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुति**[1], तब वे दर्शन तथा वर्णन के नाम से काव्य के उपर्युक्त दोनो तत्त्वो का निर्देश करते हे। कवि को ऋषि कहा गया है। ऋषि उसे कहते है जिसमे दर्शन शक्ति हो, जो मन्त्रो का द्रष्टा हो, तथा कवि वह है जो क्रान्तदर्शी हो। कवि भी ऋषि है जो मन्त्रो का न सही, स्थावर जगम जगत् का सूक्ष्म दर्शन तो करता ही है। जिस कवि मे जितनी अधिक दर्शनशक्ति होती है, उतना ही वह काव्य मे अपने लोकदर्शन को उपनिवद्ध करने मे सफल होता है। दर्शन के रूप मे काव्य के अनुभूतिपक्ष का महत्त्व द्योतित करते हुए भट्टतौत कहते है—**नानृषि. कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्**[2]। परन्तु दर्शनशक्ति होने पर भी यदि कवि मे अपने दर्शन को अभिव्यक्ति देने की क्षमता नही है, तब उसका दर्शन अनुर्वर भूमि मे पड़े बीज के समान अस्फुटित ही रहेगा। अत दर्शन को वर्णन की भी नितान्त अपेक्षा है। अतएव कवि के दर्शनपक्ष का महत्त्व प्रोद्घोषित करने के बाद भट्टतौत **नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना**[3], यह कहकर अभिव्यक्ति के महत्त्व पर भी बल देते है। अनाविल दर्शन जब सफलतापूर्वक अभिव्यक्त होता है, उसी समय सुन्दर काव्य की सृष्टि होती है।

इस दृष्टि से काव्य की कोई भी परिभाषा किसी भी युग तथा देश मे उपनिवद्ध की जाए, उसमे काव्य के इन्ही दो प्रमुख तत्त्वो का

---

१. भट्टतौत : उद्धृत हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ४३२, बम्बई १९३८

२. वही

३. वही

समावेश रहेगा। फिर भी काव्य के लक्षण में एकरूपता देखने में नहीं आती। इसका कारण है कि कुछ आचार्य काव्य में अनुभूति को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं तथा अन्य उस अनुभूति के सम्प्रेषण के माध्यम, अभिव्यक्ति प्रकार को। इस प्रकार काव्य का लक्षण परिभाषित करते समय आचार्यों में न केवल मतभेद ही रहा है, अपितु उस मतभेद के आधार पर काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का भी जन्म हुआ है। रस, औचित्य, अलंकार गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त वास्तव में आचार्यों के ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनके द्वारा उन्होंने काव्य के कभी अनुभूतितत्त्व तथा कभी अभिव्यक्तितत्त्व को उद्घाटित किया है। प्राक्तन आचार्य भरत मुनि से प्रारम्भ करके नव्य आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त काव्यस्वरूप के चिन्तन की धारा अविरल गति से प्रवाहित होती रही है, और अपने युग तथा देश की आवश्यकतानुसार आचार्यों ने काव्यतत्त्व के मूल्यांकन के लिए विविध मापदण्ड प्रस्तुत किए हैं।

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नहि रसाद ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते[1] कहकर काव्य में अनुभूति के महत्त्व को रेखांकित किया और फिर आचार्य भामह ने वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः[2] कहकर अभिव्यक्ति का डिण्डिमनाद किया कि काव्य में कथ्य की अपेक्षा कथन-प्रकार = भणितिवैचित्र्य का अधिक महत्त्व है। अपने मन्तव्य का पुनराख्यान करते हुए वे फिर कहते हैं—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलंकारोऽनया विना ॥[3]

कुछ भी हो उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के मौलिक तत्त्वों पर व्यापक तथा गहन दृष्टि से विचार किया है। सभी आचार्य काव्य के उपादानभूत शब्द तथा

---

१. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, पृ० ६२, काव्यमाला ४२, १९४३

२. भामह, काव्यालंकार, १. ३६

३. वही, २. ८५

अर्थ से काव्य के लक्षण को प्रारम्भ करते है। परन्तु इनमें कौन प्रधान है, कौन गौण है, या दोनो ही प्रधान है, इस विषय को लेकर इनमे मतभेद उत्पन्न हो जाता है। दण्डी तथा पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य **शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली**[1] तथा **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**[2] कहकर काव्य मे शब्दतत्त्व अर्थात् अभिव्यंजन को प्राधान्य देते है तथा भामह **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**[3] और मम्मट **तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि**[4] कहकर शब्द तथा अर्थ अर्थात् अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनो को काव्य मे महत्त्वपूर्ण समझते है। इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र मे शब्दप्राधान्यवाद तथा शब्दार्थोभयप्राधान्यवाद का प्रचलन हुआ। इन्ही के आधार पर काव्य के भिन्न भिन्न लक्षण उपनिबद्ध किए गए।

काव्य के लक्षण मे चाहे शब्दप्रधान हो या शब्द और अर्थ दोनो, परन्तु शब्द तथा अर्थ मे जब तक वैशिष्ट्य या विलक्षणता का समावेश नही होता तब तक उन्हे काव्य की संज्ञा से अभिहित नही किया जा सकता। काव्य के उपादानभूत शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के विवेचन मे ही अनेक सिद्धान्तो का जन्म हुआ, जिनके आधार पर आचार्यो ने अपनी अपनी दृष्टि से शब्दार्थ की इस विशिष्टता का विवेचन करते हुए काव्य मे अनुभूतितत्त्व या अभिव्यक्तितत्त्व का विश्लेषण किया।

०२२. काव्य सिद्धान्तो का मूल

रुय्यक के अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने अपनी विवृतिटीका में शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के आधायक तत्त्वो का विवेचन करके उनके आधार पर काव्यशास्त्र के प्रचलित सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।[5] शब्दार्थ का साहित्य काव्य है। परन्तु यह साहित्य विशिष्ट

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १. १०

२ जगन्नाथ, रसगंगाधर, १. १

३. भामह, काव्यालंकार, १. १६

४. मम्मट, काव्यप्रकाश, १. ४

५. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रय पक्षा.। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन।

(समुद्रबन्ध, विवृतिटीका [त्रि० सं० सी०], पृ० ४)

होना चाहिए। शब्दार्थ का यह विशिष्ट साहित्य ही काव्य को काव्येतर साहित्य से विभिन्न करता है। अत समुद्रबन्ध ने सर्वप्रथम तो "विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम" कहकर विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहा, विशेषताविहीन शब्दार्थ को काव्य नही माना और, जिस विशेषता से शब्दार्थ काव्य बनते है, उसे तीन प्रकार से (१) धर्म (२) व्यापार और (३) व्यग्य द्वारा प्रतिपादित किया। समुद्रबन्ध का आशय है कि शब्द अथ यदि धर्मी है तो कुछ धम ऐसे होते है जो उन्ह विशिष्ट बना देते हैं। सभी मनुष्य समान होते हे परन्तु शौय, औदार्य आदि धर्म उन्ह विशिष्ट बना देते है, जिनके कारण वे दूसरो से विलक्षण हो जाते है। इसी प्रकार कुछ धर्मो के कारण शब्दार्थ विशिष्ट होकर काव्य बन जाते ह। वे धम दो प्रकार के ह—(१) अलकार और (२) गुण। भामह उद्भट, दण्डी प्रभृति आचाय अलकारो को शब्दाथ की विशपता के आधायक धम मानकर उनसे विशिष्ट शब्दार्थ का काव्य मानते ह। अत य अलकारवादी आचाय है, क्योंकि इनकी दृष्टि म अनुप्रास आदि शब्दालकार तथा उपमा आदि अर्थालकार शब्दाथ के चारुत्व के आधायक धम ह। आचाय वामन ने अलकारो की अपेक्षा माधुय, ओज, प्रसाद आदि गुणो को शब्दाथ के वैशिष्ट्य का आधायक धम स्वीकार किया तथा गुणविशिष्ट रचना को काव्य का परमतत्त्व अगीकार किया। य रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक हुए। इनकी दृष्टि म शब्दाथ का वशिष्ट्य इतना अलकारो से नही, जितना गुणो से है। इसके बाद भट्टनायक तथा कुन्तक जैसे आचार्यों ने अलकार गुण रूप धर्मो से अतिरिक्त व्यापार को शब्दाथ की विशेषता का आधायक तत्त्व प्रतिपादित किया। कुन्तक की दृष्टि में यह व्यापार कवि का है, जिसे उन्होने वक्रोक्ति कहा है।[1] कवि अपने भणिति वैचित्र्य म शब्दाथ को विशिष्ट बनाता है। यह कवि व्यापार का ही प्रभाव है कि जो शब्दाथ पहिले साधारण प्रतीत होते थे, वे ही कवि व्यापार से विशिष्ट होकर सहृदयो को चमत्कृत करने लगते है।

> यानेव शब्दान् वयमालपाम, यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम ।
> तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः समोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥[2]

१ कविव्यापारवक्रत्वप्रकारा संभवन्ति षट ।
(कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १. १८)

२ नीलकण्ठदीक्षित, शिवलीलार्णव, १ १३

कवि की वाणी में वक्रता रहती है, उसके कथन-प्रकार में वैचित्र्य होता है। कवि की वाणी की यह वक्रता ही वक्रोक्ति है। यह वैदग्ध्यभंगी भणिति है। कुन्तक की दृष्टि से यह काव्य की आत्मा है। जो बात वक्रता से रहित है, वह साधारण बात है, काव्य नहीं—वार्तामेनां प्रचक्षते।[1] जो कथन वक्रता से युक्त है वही काव्य है।

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[2]
>
> यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
> वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥[3]

जहां कुन्तक ने कवि की दृष्टि से काव्य में वक्र-व्यापार का प्राधान्य सिद्ध कर वक्रोक्ति नामक नए सिद्धान्त को जन्म दिया, वहां भट्टनायक ने भोगीकृत व्यापार को काव्य में प्रधानता देकर रसिक की दृष्टि से शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया।

> द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ।[4]

इस भोगीकृत व्यापार के रूप में भट्टनायक ने काव्यशास्त्र में रस की प्रतिष्ठा की, जिसका निर्देश पहिले आचार्य भरत कर ही चुके थे। भट्टनायक ने कहा—

> अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च ।
> अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः ॥
> भावनाभाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो मतः ।
> तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः ॥[5]

---

१. भामह, काव्यालंकार, २. ८७

२. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १. ७

३. भोज, शृंगारप्रकाश, प्र० भा०, अध्याय ६, पृ० ४२६

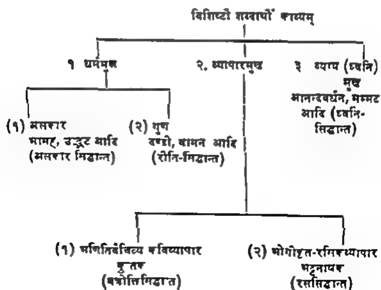
४. भट्टनायक : उद्धृत, ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १६१, (कु० स्वा० रि० इ०)

५. भट्टनायक : उद्धृत, हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, टिप्पण, पृ० ६३-६७

इस भोगीकृत व्यापार को प्रधानता देकर भट्टनायक ने सहृदय की रसास्वादशक्ति पर बल दिया और काव्य के अनुभूतिपक्ष का परिपोष किया।

समुद्रबन्ध की दृष्टि से अन्तिम पक्ष व्यंग्य का है। ध्वनिवादी आचार्य काव्य में व्यंग्य को महत्त्व देते हैं। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य पर ध्वनि होती है और ध्वनि ही उत्तम काव्य है। वाच्यार्थ साधारण होता है। व्यंग्यार्थ रमणीय एवं सहृदयहृदयैकवेद्य है। काव्य में उसी की ही परम प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस पक्ष में अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों का समन्वय है, क्योंकि व्यंजित होने पर ही रस रस है। यदि रस की व्यंजना न हुई तो, उसकी अनुभूति नहीं होती। ध्वनन ही रस का प्राण है। सुन्दर अभिव्यक्ति ही अनुभूति का सम्प्रेषण करती है। अभिव्यक्ति = व्यंजना वाक् है, तो रस अर्थ है। व्यंजना और रस, अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों ध्वनिसिद्धान्त में अर्धनारीश्वर के समान सम्पृक्त होते हैं। अतः ध्वनिसिद्धान्त को सर्वोत्तम सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

समुद्रबन्ध के इस विवेचन को निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट किया जा सकता है—



०२३ अलंकार-सिद्धान्त

प्रसिद्ध कोशनिर्माता अमरसिंह ने अलम् के चार अर्थ दिए हैं— भूषण, पर्याप्ति, शक्ति, वारण (अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारण-वाचकम्)। इनमें भूषणार्थक अलम्+√कृ के साथ भाव या करण के अर्थ में घञ् च भावकरणयोः सूत्र से घञ् प्रत्यय के योग में अलंकार शब्द निष्पन्न होता है। भाव में घञ् करने से अलंकार का अर्थ है अलंकृति=सौन्दर्य। जैसाकि अलंकार का प्रयोग करते हुए वामन ने कहा है—सौन्दर्यमलंकारः[1]। यह अलंकार का व्यापक अर्थ है जिसकी परिधि में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है, क्योंकि ये सभी तत्त्व काव्य का सौन्दर्य हैं। परन्तु जब करण के अर्थ में घञ् प्रत्यय का प्रयोग होता है, तब अलंकार से उपमा आदि प्रसिद्ध अलंकारों का ग्रहण होता है। जो काव्य की सुन्दरता में साधन हैं, वे अलंकार हैं। उपमा आदि का अलंकार नाम सार्थक है, क्योंकि ये शब्दार्थ के सौन्दर्य का साधन हैं।

सर्वप्रथम भामह ने—

> रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
> न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥[2]

कहकर काव्य में अलंकारों के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया। अलंकार-वादी आचार्यों ने अलंकारहीन कविता को विधवा कहा है। जिस प्रकार सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख तिलक, कुण्डल आदि अलंकारों के बिना आकर्षक नहीं होता, उसी प्रकार शब्दार्थ भी अलंकारों के बिना काव्य नहीं बनते। इन अलंकारों की जननी है वक्रता या अतिशयोक्ति। गौरपत्यं बलीवर्दस्तृणान्यत्ति मुखेन सः आदि वाक्य काव्य नहीं है, क्योंकि इनमें कथन की वक्रता न होने के कारण कोई अलंकार नहीं है। इस सन्दर्भ में भोजराज के विषय में कथा प्रचलित है कि उन्होंने भूखे ब्राह्मणों को—

भोजनं देहि राजेन्द्र, घृतसूपसमन्वितम् यह वचन कहने पर भोजन तो दे दिया, परन्तु उनकी इस छन्दोबद्ध रचना पर उन्हें पारितोषिक

---

१. का० सू० १. १. २

२. भामह, काव्यालंकार, १. १३

नही दिया। परन्तु जब उन्होंने अपने अपूर्ण पद्य की पूर्ति करते हुए कहा—

साहित्य च शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलं दधि ।

तब उनकी पद्ययोजना पर प्रसन्न होकर भोजराज ने उन्हे प्रभूत पुरस्कार दिया।

पहिला पद्यखण्ड वक्रता से रहित, अलकार विहीन था और दूसरा अनुप्रासोपमा से मण्डित होकर आकर्षक बन गया था। पहिला कथन साधारण था, परन्तु दूसरा अलकारो से युक्त होकर विशिष्ट बन गया था। पहिला काव्य नही था, दूसरे मे अलकारो के योग से काव्यत्व आ गया था।

अलकारो के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए अग्रजी साहित्य के आलोचक बेन ने कहा है—

> A figure of speech is a deviation from the plain and ordinary mode of speaking for the sake of greater effect, it is an unusual form of speech.[1]

भामह जो अलकारतत्र के प्रजापति के पद मे अभिहित हुए, के बाद उद्भट रुद्रट प्रतिहारेन्दुराज अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने अलकारो का विवेचन किया। इनमे जयदेव तो अलकारो के इतने समर्थक हुए कि उन्होने अलकारो का काव्य मे महत्त्व न देने वाले मम्मट पर कटाक्ष करते हुए कहा—

अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती ॥[2]

काव्यशास्त्र के प्रारम्भ के युग मे आचार्यों की दृष्टि काव्य के स्थूल पक्ष पर ही अधिक थी। अत अलकारो का महत्त्व स्वाभाविक

---

१ Bain *Rhetoric and Composition*, I
(As Quoted by Dr V Raghavan in *Some Concepts of Alankārasāstra*, p 50)

२. जयदेव, चन्द्रालोक, १. ८

था। परन्तु बाद में जब रस, ध्वनि आदि सिद्धान्तों का, जो काव्य के अन्तरंग को प्रोद्घाटित करते थे, महत्त्व बढ़ा, तब भी अलंकारों की उपेक्षा न हो सकी। रस और ध्वनि सिद्धान्त में उपकारक के रूप में अलंकारों को स्वीकार किया गया है और उनका स्वरूप इस प्रकार निर्धारित हुआ है—

> उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित ।
> हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥[1]

ऋग्वेद से प्रारम्भ करके अब तक के साहित्य में अलंकारों का प्रयोग बराबर होता आ रहा है। वैदिक ऋषि तो लक्षणग्रन्थों से परिचित नहीं थे, फिर भी उन्होंने स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। वैदिक साहित्य में प्राय बहुत से अलंकार उपलब्ध हैं, जिनके लक्षण परवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उपनिबद्ध किए हैं। इससे अलंकारों की व्यापकता तथा सर्वजनप्रियता प्रकट होती है। अलंकारों के प्रयोग का महत्त्व प्रकट करते हुए ठीक ही कहा गया है—

> विनोक्त्यापि पर्याप्त्या स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।
> तदर्थमेव कवयोऽलङ्कारान् पर्युपासते ॥[2]

०२४ गुण

भरत मुनि से प्रारम्भ कर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने गुणों की चर्चा की है और काव्य में उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। परन्तु काव्यस्थानीय गुणों का कौन आश्रय है, इनका क्या विषय है, इनका स्वरूप क्या है, इनकी संख्या कितनी है, इस विषय को लेकर उनमें मतभेद है।

सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दस गुणों का उल्लेख किया—

> श्लेष प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोज पदसौकुमार्यम् ।
> अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥[3]

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, ८ ६७

२ उद्धृत महिमभट्ट, व्यक्ति विवेक, पृ० २१८, चौखम्बा, बनारस, १९३६

३. भरत, नाट्यशास्त्र, १६. ६७

भामहाचार्य ने तीन गुण माने—

> माधुर्यमभिवाञ्छन्त प्रसाद च सुमेधस ।
> समासवन्ति भूयासि न पदानि प्रयुजते ॥
> केचिदोजोऽभिधित्सन्त समस्यन्ति बहून्यपि ।[1]

दण्डी ने दस गुण स्वीकार किए—

> श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ।
> अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥
> इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता ।[2]

वामन ने बीस गुण स्वीकार किए—दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण। उसने शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनो के समान नाम रखे—

> ओज प्रसाद श्लेष-समता-समाधि माधुर्य सौकुमार्य-उदारता-अर्थव्यक्ति-कान्तयो बन्धगुणा । त एवार्थगुणा ।[3]

रुद्रट न अपने काव्यालकार मे वाक्य की पदगुम्फना के सौन्दर्य को लेकर गुणो का विवेचन किया है—

> रचनाधारत्वे ऽनु शब्दगुणा सन्निवेशचारुत्वम् ।
> सर्वाल्पुर्वेवर्यं तदपविनरसक्टेव मुने ॥[4]

परन्तु रुद्रट ने गुणो की सख्या के विषय मे कोई स्पष्ट मत नही दिया है।

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने पाच शब्दगुणो और चार अर्थगुणो का उल्लेख किया है—

> शब्दाय हि बन्धेत्यादय पञ्च गुणा । अर्थस्य पुनर्गुणा वास्तवादयश्चत्वार ।[5]

---

१ भामह, काव्यालकार, २ १-२
२ दण्डी, काव्यादर्श १. ४१-४२
३. वामन, काव्यालकारसूत्रवृत्ति, ३. २. १
४. रुद्रट, काव्यालकार, २. १०
५. नमिसाधुटिप्पण—काव्यालकार, ११. १६ (काव्यमाला–२)

नमिसाधु के ये गुण रुद्रट द्वारा विवेचित शब्दालंकारों के पाँच वर्ग तथा अर्थालंकारों के चार वर्ग हैं। इससे प्रतीत होता है कि नमिसाधु अलंकारों का अन्तर्भाव गुणों में करना चाहते हैं।

भोजराज ने अलग-अलग, शब्द और अर्थ गुणों की संख्या दस में बढ़ाकर चौबीस कर दी। उन्होंने गुणों के तीन वर्ग बनाए—(१) बाह्य—शब्दगुण (२) आभ्यन्तर—अर्थगुण (३) वैशेषिक—दोषों की गुणस्थिति। इनमें प्रत्येक की संख्या २४ है—

त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः ।
बाह्याभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति ॥
बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः ।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः ॥
ते तावदभिधीयन्ते नामलक्षणयोगतः ।
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ॥
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता ।
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता ॥
तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः ।
संक्षेपः संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा ॥
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे ॥[1]

भोज के गुण-विवेचन से स्पष्ट है कि उनके बाह्य, आभ्यन्तर गुणों के नाम वही पुराने हैं, परन्तु उन्होंने उनकी परिभाषा भिन्न दी है। उनके वैशेषिक वर्ग के अन्तर्गत गुणों के नाम भिन्न हैं।

भोजराज से पूर्व आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में तीन मार्ग और दस गुणों का विवेचन किया है। उनके तीन मार्ग हैं—सुकुमार, वैचित्र्य और मध्यम, और उनके गुण दस हैं। उन्होंने प्रसाद, माधुर्य, लावण्य तथा आभिजात्य[2], इन चार गुणों को स्वभाव-भेद से

१. भोजराज, सरस्वतीकण्ठाभरण १. ६०-६५

२. असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम् ।
माधुर्यं ... ...
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ।
(व० जी० १. ३०-३३)

सुकुमार तथा विचित्र मार्गों मे अलग-अलग माना है। इस प्रकार इनके नाम यद्यपि समान है, परन्तु इनका स्वरूप सुकुमार तथा विचित्र मार्ग मे भिन्न-भिन्न होने से इनकी संख्या आठ हो जाती है, चार सुकुमार मार्ग के गुण तथा चार विचित्र मार्ग के। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और गुण है। इस प्रकार इनकी संख्या १० हो जाती है।

अग्निपुराणकार ने १९ गुण स्वीकार किए। पहिले उन्होंने सामान्य तथा वैशेषिक के नाम से गुणो को दो भागो मे विभक्त किया। तदनन्तर उन्होने सात शब्द के गुण, छ अर्थ के तथा छ शब्द तथा अर्थ दोनो के गुण प्रतिपादित किए—

सम्भवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा।
सर्वसाधारणीभूत सामान्य इति मन्यते।
शब्दमर्थमुभौ प्राप्त सामान्यो भवति त्रिधा।
शब्दमाश्रयते काव्य शरीर य स तद्गुण।
श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यसौकुमार्यमुदारता।
सत्येव यौगिकी चेति गुणा शब्दस्य सप्तधा।
माधुर्य सविधान च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढि सामयिकत्व च तद्भेदा षड् चकासति।
शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुण स्मृत॥
तस्य प्रसाद सौभाग्य यथासख्य प्रशस्तता।
पाको राग इति प्राज्ञै षट्प्रपञ्चविपञ्चिता॥[1]

आनन्दवर्धन मे प्रारम्भ कर मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-मार्गानुयायी नव्य आचार्यों ने माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार किए—

गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा[2]।

बाद मे चलकर ये तीन ही गुण स्वीकृत हुए।

गुणो के इस इतिहास-प्रदर्शन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि गुणो के विषय मे आचार्यों की दो धारणाएं निश्चित है। दण्डी,

---

१ अग्निपुराण, ३४६. ३-२०

२. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ८. १

वामन आदि प्राच्य आचार्य गुणो को शब्दार्थ का धर्म मानते है तथा आनन्दवर्धन प्रभृति ध्वनिवादी आचार्य गुणो को रस का धर्म स्थिर करते है। जैसे दण्डी गुणो के विषय मे कहते है—

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता प्रागप्यलक्रिया ।[1]

यहा उन्होने गुणो को अलकाररूप कहा है। उपमा, रूपकादि काव्य के सामान्य अलकार है तथा माधुर्य, ओज आदि विशिष्ट अलकार है। जैसे अलकार काव्य की शोभा करते है वैसे ही गुण भी। परन्तु गुण काव्य की मौलिक शोभा है, और अलकार उस शोभा की वृद्धि करते है। वामनाचार्य भी गुणो के विषय मे कहते है—

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।

तदतिशयहेतवस्त्वलकारा ।[2]

अग्निपुराणकार भी गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते है—

य काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुण ।[3]

आद्याचार्य भरत गुण के स्वरूप को तो विशद नही करते, परन्तु वे गुण को दोष का विपर्यय मानते है—

एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिता. ।
गुणा विपर्ययादेषा माधुर्यौदार्यलक्षणा ॥[4]

क्योकि भरत मुनि ने वागभिनय के प्रसग मे गुणो का विवेचन किया है, इससे अनुमान होता है कि उनकी दृष्टि मे गुण शब्द-अर्थ के धर्म हैं। उन्होने गुणो के जो लक्षण दिए हैं, उनसे भी गुणो की शब्दार्थ-परता स्पष्ट होती है। यथा—

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्त सुश्लिष्टसन्धिभि. ।
सुकुमारार्थसयुक्त सौकुमार्य तदुच्यते ॥[5]

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, २. ३

२. वामन, काव्यालकारसूत्र, ३.१ १-२

३. अग्निपुराण, ३४६ ३

४. भरत, नाट्यशास्त्र, १६ ९५

५. वही, १६. १०५

नव्य आचार्यों ने जब रसध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया, तब उन्होंने गुणों के विषय में परम्पराप्राप्त विचार को अपने सिद्धान्त के अनुकूल परिवर्तित करके उपस्थापित किया। जब रस काव्य का केन्द्रभूत मुख्य तत्त्व है, तो काव्य की शोभा के सभी उपकरण रस से ही किसी न किसी रूप से सम्बद्ध होने चाहिए। रस जब आत्मा है, तो अलकार, गुण आदि तत्त्वों की काव्य में स्थिति वैसी ही है जैसी लौकिक कटककुण्डलादि अलकारों तथा शौर्य, दाक्षिण्य आदि गुणों की आत्मवान् व्यक्ति में होती है। अत रसध्वनिवादी आचार्यों ने गुण का स्वरूप स्थिर किया—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा।[1]

इस प्रकार रसध्वनि-सिद्धान्त में गुण शब्दार्थ के धर्म न रहकर रस के धर्म बन गए। उनका स्वरूप भी परिवर्तित हुआ, जैसे—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।[2]

तथा

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते।[3]

तथा

चित्त व्याप्नोति य क्षिप्र शुष्केन्धनमिवानल।
स प्रसाद[4] ... ॥

और ये माधुर्य, ओज प्रसाद गुणों के लक्षण बने।

लक्षणग्रन्थों में गुणों का स्वरूप चाहे कुछ भी रहा हो, परन्तु वैदिक साहित्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि परवर्ती सस्कृत-साहित्य में गुणों का जो रूप निर्धारित हुआ, उसका बीज वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है। वैदिक ऋषि की भाषा की श्रुतिसुखदता, श्लक्ष्णता, शान्तिमत्ता तथा प्रवाहमयता आदि विशेषताएँ परवर्ती लक्षण-ग्रन्थों में माधुर्य, ओज प्रसाद आदि गुणों के रूप में विकसित हुई।

---

१ विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ८ १

२. वही, ८ २

३ वही, ८. ४

४ वही, ८. ७

0.२ ५. रीति

काव्यसौन्दर्य के अन्वेषण में रीति-सिद्धान्त अलकार-सिद्धान्त से एक पग आगे बढा है। इसमें काव्य के बाह्य से आभ्यन्तर की ओर प्रवेश करने का प्रयास है। अलकार-सिद्धान्त में काव्य की आत्मा का विचार नहीं आया था, परन्तु रीतिसिद्धान्त मे वह विचार उभरा और रससिद्धान्त मे जाकर परिपुष्ट हुआ। अलकारसिद्धान्त में जो स्थान अलकारो को प्राप्त था, वह अब गुणो ने ले लिया। गुण काव्य की शोभा के उपादान कारण तथा अलकार निमित्त बन गए। गुण काव्य के नित्य धर्म तथा अलकार अनित्य हुए।

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलकाराः।
पूर्वे नित्याः।[1]

वामन ने रीतिसिद्धान्त में अलकारो की पुनर्व्यवस्था की। वे अब काव्य के आवश्यक या अपरिहार्य तत्त्व न रहे। काव्य में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणो की स्थिति आवश्यक है। अलकार न भी हों तो भी गुणों के सद्भाव में काव्यत्व रहेगा। अलकार तो केवल गुण-विशिष्ट काव्य की शोभा का अतिशय करते हैं। काव्य की मौलिक शोभा तो गुण हैं।[2] यहा यह अवधेय है कि वामन ने एक बार अलकारो को जो गौण स्थान दे दिया, वह आगे भी गौण ही बना रहा। रस और ध्वनिसिद्धान्त में भी अलकारो का स्थान हीन ही रहा। अलकारो का निरसन तो नहीं हुआ, परन्तु वे काव्य में प्रधान नहीं रहे। जो अलकार भामह के समय में काव्य के स्वरूपाधायक थे, वे अब केवल उत्कर्षाधायक ही रह गए।

वामन जिन गुणों को इतना महत्त्व दे रहे थे उनका विवेचन पूर्वाचार्य कर चुके थे। भरत ने १० गुणों का निर्देश किया था तथा

---

१ वामन, काव्यालकारसूत्र, ३. १. १-३

२. युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभि सदलकारविकल्पकल्पनाभि॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥
(वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ६६, कलकत्ता, १९२२)

भामह ने तीन गुण स्वीकार किए थे। वामन के पूर्ववर्ती दण्डी ने १० गुणों का विवेचन करके उन्हें मार्ग का प्राण कहा था। दण्डी ने दो मार्ग वैदर्भ तथा गौड स्वीकार किए और गुणों को उनका निष्पादक तत्त्व माना। इसी विचार परम्परा को वामन ने ग्रहण किया। उन्होंने गुणों का परिपोष किया और उनके आधार पर रीतिसिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया।

रीति शब्द की व्युत्पत्ति **रीयते गम्यते अनयेति रीतिः** है। रीति मार्ग है, पद्धति है जिसके द्वारा कवि गमन करते हैं। रीति के लिए मार्ग, वर्त्म, पन्था आदि शब्द प्रचलित है। दण्डी ने वैदर्भ और गौड मार्ग का प्रयोग किया तो भोजराज ने पन्था का। अतः रीति का अभिप्राय है—काव्यसरणि, काव्यमार्ग, काव्यपद्धति, काव्यपन्था। वामन रीति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

विशिष्टपदरचना रीतिः[1]।

रीति विशिष्ट पदरचना है। पदरचना में विशेषता गुणों के कारण आती है—**विशेषो गुणात्मा**।[2] ये गुण ही मिल कर रीति का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

जब विशिष्ट पदरचना रीति है, तो प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट पदरचना हो सकती है। इस प्रकार रीतियाँ अनन्त हो सकती हैं। परन्तु स्थूल रूप में विशिष्ट पदरचना रीति को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ कवि असमस्त, कोमलध्वनियुक्त पदों का प्रयोग करते हैं। उनकी पदयोजना में सरलता तथा मसृणता रहती है। कुछ कवि दीर्घ एवं समस्त पदों एवं कठोर ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। उनकी वाक्य रचना में तीक्ष्णता, दीप्ति तथा गाढत्व आ जाता है। कुछ कवियों की पदयोजना में इन दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण पाया जाता है। अतः वामन ने पदों की गुणमूलक इस विशिष्ट रचना के आधार पर रीति के तीन भेद किए हैं—वैदर्भी, गौडी, पाचाली।

१ वामन, काव्यालंकारसूत्र, १. २. ७

२. वही, १. २ ८

काव्यभाषा में ध्वनियों, पदों और वाक्यों की योजना का एक प्रकार होता है। कोमल ध्वनियों तथा असमस्त पदों के प्रयोग से प्रसाद गुण आता है, जिसमें कवि की शैली वैदर्भी हो जाती है। समस्त पदों एवं कठोर वर्णों की योजना से ओज गुण आता है, जिससे कवि की पद्धति गौडी बन जाती है। इन गुणों तथा वाक्यों व पदों की योजना के मिश्रण में कवि की सरणि पांचाली बन जाती है।

इस प्रकार रीतिसिद्धान्त में कवि की ध्वनि-संयोजना, नाद-सौन्दर्य, वाक्यगठन की कला प्रमुख रहती है। आचार्य वामन ने विभिन्न रीतियों के घटक इन तत्त्वों का गुणों के रूप में प्रतिपादन किया और उनके उच्चावच प्रयोग के आधार पर काव्य में त्रिविध रीतियों की स्थापना की। उनकी दृष्टि में रीति शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का आधायक तत्त्व है और यह रीति ही काव्य की आत्मा है। कुछ भी हो, कवि की शैली की दृष्टि से काव्य के मूल्यांकन का मार्ग रीतिसिद्धान्त ने प्रशस्त किया। काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए रीतिसिद्धान्त का भी संस्कृत के काव्यशास्त्र में अपना ही स्थान है।

यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि बाद में परिनिष्ठित वैदर्भी, पांचाली आदि रीतियों के मार्गदर्शक वैदिक ऋषियों के मंत्र ही रहे होंगे, जिनमें विषय तथा भाव के अनुरूप पदयोजना उपलब्ध होती है।

०.२.६ शय्या तथा पाक

शय्या तथा पाक काव्य के ऐसे तत्त्व हैं, जिनका बहुत कम प्रचलन हुआ है। संस्कृत के आचार्यों में बहुत कम ने इनका उल्लेख किया है।

शय्या—

बाण ने कादम्बरी के प्रारम्भिक पद्यों में शय्या का उल्लेख किया है। शय्या का अर्थ है—गठना या योजना। काव्य के क्षेत्र में शय्या का अर्थ होता है—शब्दों की योजना, शब्दों का विन्यास। इस रूप में 'शय्या' का विचार 'रीति' से बहुत कुछ मिलता है। जिस प्रकार शय्या पर हम विश्राम करते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी पदों की शय्या

होती है, जिस पर काव्य अवस्थित होता है। परन्तु संस्कृत के काव्य-शास्त्र में शय्या के सिद्धान्त की कोई परम्परा नहीं है और न ही इसका स्वरूप विशद है। भोजराज ने शब्दालंकारों के अन्तर्गत शय्या का विवेचन किया है। परन्तु वह शय्या प्रस्तुत में विचारणीय शय्या से भिन्न है।

विद्यानाथ तथा विश्वेश्वर प्रभृति आचार्यों के सम्मुख शय्या का विचार काव्यशास्त्र के एक मत के रूप में उभरा और उन्होंने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। इस विषय में विद्यानाथ के विचार विशेष रूप से मननीय हैं क्योंकि विश्वेश्वर तथा विद्याधर आदि आचार्यों ने शय्या के सम्बन्ध में उनका ही अनुसरण किया है।

विद्यानाथ ने शब्दों की परस्पर मैत्री को शय्या कहा है—

या पदानां परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते।

अत्र हि पदविनिमयासहिष्णुत्वाद् बन्धस्य पदानुगुण्यरूपा शय्या।

—प्र० रु० पृ० ४५

जब पदों का विनिमय न हो सके, जिस रूप तथा क्रम में वे हैं उसी में रहें, तब उनकी परस्पर मैत्री से शय्या का सौन्दर्य उभरता है। शय्या पदों का एक विशेष विन्यास है। जैसे केशों का एक विशेषरूप से किया गया विन्यास रमणी का सौन्दर्य बढ़ाता है, वैसे ही पदों की विशेष गठना काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि करता है। शय्या का आधार है—पदों का अनुगुणता प्रवाह, उनका विशेषरूप में विन्यास। शय्या में पदों में समानता आवश्यक है और उनका कभी भी असमान क्रम नहीं होना चाहिए। इसीलिए विद्यानाथ ने कहा है कि शय्या में पद विनिमय के लिए अवकाश नहीं। पदों तथा वाक्यों की जिस रूप में गठना कर दी गई है वही रमणीय होती है। उसमें तनिक सा भी व्यतिक्रम किया या आदान प्रदान किया, तो शय्या का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। शय्या का विचार फूलों की माला से मिलता जुलता है। फूल भी विशेष क्रम में तथा परस्पर अनुकूलता से पिरोये जाने पर ही माला की शोभा बढ़ाते हैं। उनमें थोड़ा सा भी विनिमय कर देने पर माला की सुन्दरता का ह्रास हो जाता है। उसी प्रकार काव्य में शय्या की स्थिति प्रतीत होती है। शय्या में पदघटना जिस रूप में है, उसी रूप में ही

समुचित है। जो प्रतिभावान् कवि होते हैं, उनके काव्य मे पद अपने आप सुगठित हुए उभरते हैं। प्रयास के बिना ही उनकी रचना मे पदो की शय्या बन जाती है। अत एव कालिदास आदि के काव्य मे हम पदो के क्रम को बदल नही सकते। परन्तु प्रतिभाहीन कवि के काव्य मे पदो का उद्वाप तथा आवाप होता रहता है। अत एव उसके काव्य मे शय्या का सौन्दर्य प्रकट नही हो पाता।

विद्यानाथ ने शय्या का जो स्वरूप निर्धारित किया, उसे पाक के सिद्धान्त से पृथक् करना कठिन प्रतीत होता है। शय्या तथा पाक दोनो एक दूसरे की सीमा मे अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं।

पाक—

सर्वप्रथम वामन ने काव्यशास्त्र के तत्त्व के रूप मे पाक पर विचार किया (का० सू० वृ० १ ३)। कवि अपनी भाषा को शब्दो के गठन से कलात्मक बनाता है। वह जोहरी के समान भाषारूपी काचन मे रत्न के समान पदो को जडता है। वह उचित तथा अनुकूल पदो को तो स्थापित करता है तथा अननुकूल पदो को निकाल देता है। इस प्रकार वह अपनी भाषा को सजाता है। पदो के गठन की इस प्रक्रिया मे यदि कवि ने उन्हे अपनी भाषा मे ऐसा सुश्लिष्ट कर दिया कि उन्हे वहा से हटाया न जा सके, तो वह अपनी कला की पूर्णता पर पहुँच जाता है। कला की इस प्रौढता को ही शब्दपाक कहा जाएगा। यह ऐसी स्थिति है, जहा पदयोजना अपने सौन्दर्य मे परिपूर्ण हो जाती है। तब कवि की सरस्वती सिद्ध मानी जाती है।

पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ।[1]

शब्दपाक का यह रूप शय्या से बहुत मेल खाता है, क्योकि पदो की स्थिरता, जिसे हम विनिमय की असहिष्णुता कह सकते हैं, दोनो मे समान है। फिर वामन ने शब्द तथा अर्थ गुणो पर विचार करने के बाद कहा है कि समग्र गुणो की उपस्थिति हो जाने पर काव्य मे जो

१. वामन, का० सू० वृ० १ ३

प्रौढता आती है वह काव्यपाक है—गुणस्फुटत्वसाकल्य काव्यपाक प्रचक्षते।[1] इससे पूर्व वैदर्भी रीति के विवेचन मे वामन ने पाक को अत्यधिक महत्त्व दिया था।[2]

वामन के वाद पाक की ओर ध्यान देने वाले आचार्य राजशेखर हैं। उन्होने वामन के पाक के विचार को आगे बढाया और पाक के कई भेद किए, जैसे द्राक्षापाक, नारिकेलपाक इत्यादि। उन्होने काव्य की रचना मे पूर्णता लाने के लिए किए गए अभ्यास के विभिन्न रूपो को पाक के रूप मे वर्णित किया।

पाक का यह विचार वामन से प्रारम्भ हुआ और उसने गुणविवेचन के प्रसग मे पाक का सन्निवेश किया। अत पाक का साम्य वामन के गुणो से होने लगता है और बहुधा उनके गुणो तथा पाक मे भेद करना कठिन हो गया है। अत एव, प्रौढि नामक शब्दगुण को बाद मे भोजराज ने पाक से मिला दिया।

विद्याधर ने पाक तथा शय्या दोनो मे अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, पर हम देख चुके है कि पाक, शय्या एव गुण मे बहुत कुछ समानता देखने मे आती है। विद्यानाथ ने शय्या को पदाश्रित तथा पाक को अर्थाश्रित कहकर दोनो को एक दूसरे मे भिन्न किया। उन्होने कहा कि अर्थगाम्भीर्य पाक है। परन्तु उनका यह अर्थगाम्भीर्य शय्या से तो पृथक् हो गया, परन्तु इसकी सीमा, जैसाकि उनके विवेचन से स्पष्ट होता है, रस के क्षेत्र मे प्रवेश कर गई। विद्यानाथ ने पाक के दो भेद किए— (१) द्राक्षापाक—द्राक्षापाक स कथितो बहिरन्तस्फुरद्रस[3], (२) नारिकेलपाक—स नारिकेलपाक स्यात् अन्तर्गूढरसोदय[4]। इस प्रकार शय्या तथा पाक का विचार स्पष्ट न हो सका। कभी तो ये गुणो से मेल खाने लगे और कभी एक दूसरे से मिश्रित होने लगे। यही कारण है कि इनका साहित्यशास्त्र मे प्रचलन नही हुआ।

---

१ वामन, का० सू० वृ० ३.२.१२
२. वही, १. २ २१
३. प्रतापरुद्रीय, पृ० ४५
४. वही, पृ० ४६

०२७ वक्रोक्ति

भामह ने वक्रोक्ति के महत्त्व को प्रोद्घाटित करते हुए कहा है—

> **सैषा सर्वैव वक्रोक्ति अनयार्थो विभाव्यते ।**
> **यत्नोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलंकारोऽनया विना ॥**[1]

भामह की दृष्टि से काव्य मे सर्वत्र वक्रोक्ति ही ओतप्रोत है। लौकिक अर्थ के विभावीकरण अर्थात् विभाव मे परिवर्तित होने का साधन वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति के विना काव्य मे अलकार अर्थात् सौन्दर्य नही आता।

वक्रोक्ति का अर्थ है—वक्र कथन, टेढी उक्ति। उक्ति की वक्रता क्या है ? किसी बात को सामान्य रूप मे न कहकर उसे असामान्य, विचित्र रूप मे कहना। जैसे, 'आप कहा से आए हैं', न कहकर 'आपने किस प्रदेश को अपने विरह से व्याकुल किया हैं', कहना वक्रोक्ति है, जो साधारण कथनप्रकार मे भिन्न है। अतएव भामह ने वक्रोक्ति को **लोकातिक्रान्तगोचर वच** कहा है, अर्थात् लोक को अतिक्रमण करने वाला वचन वक्रोक्ति है। साधारण जन अपने भावो को प्रकट करने के लिए जिन सीधे-सादे शब्दो का प्रयोग करते हैं, उनसे भिन्न शब्द तथा अर्थ का प्रयोग करना वक्रोक्ति है।

भामह के इस वक्रोक्ति-विचार को कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित मे सिद्धान्त रूप मे स्थापित किया। वे वक्रोक्ति को काव्य की परमभूषा मानते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति का लक्षण किया है—**वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते।**[2] वैदग्ध्य का अर्थ है—कविकर्म की कुशलता, भगी का अर्थ है—शोभा, विच्छित्ति और भणिति का अर्थ है—कथन। जब कवि अपने कौशल से कोई बात सुन्दर रूप मे कहता है तो वह वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति के मूल मे कवि-व्यापार, कवि-कौशल है। अत कवि-कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार पर आश्रित होने वाला कथन प्रकार वक्रोक्ति है।

---

१. भामह, काव्यालकार, २. ८५·

२. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १ ·

कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद स्वीकार किए हैं[1]—

(१) वर्णविन्यासवक्रता (२) पदपूर्वार्धवक्रता (३) पदपरार्धवक्रता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता (६) प्रबन्धवक्रता।

०२८ रस

भारतीय साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्त काव्य का मर्म ढूंढने वाले विभिन्न मार्ग है। उनमे सर्वाधिक प्रशस्त मार्ग रससिद्धान्त है। जब हम कहते हैं कि अमुक काव्य या नाटक प्रभावकारी है तो इस प्रभाव का विश्लेषण कैसे किया जाए? सुन्दर प्रभावकारी कहने मे हमारा वास्तविक विवक्षित क्या होता है? इसका उत्तर है कि वास्तव मे वही कृति सर्वाधिक सुन्दर या प्रभावकारी होती है, जिससे पाठक का पूर्ण हृदय-सवाद हो। जब कोई कृति हमारे हृदय को स्पर्श करती है, उससे हमे आह्लाद प्राप्त होता है, तो वह रचना सफल मानी जाती है। सहृदय को भावविभोर करने की क्षमता ही साहित्य की उत्तमता की कसौटी है और वही रस है। सहृदयचक्रवर्ती आनन्दवर्धन ने जब

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ॥[2]

यह कहा, तो उन्होने प्रमाणित कर दिया कि आदिकवि के काव्यत्व का मूल उसी हृदयस्पर्शिता तथा हृदयसवाद म निहित है, जिसकी रससिद्धान्त के रूप मे व्याख्या की जाती है। रससिद्धान्त के आद्याचार्य भरत भी कहते हैं—

नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थ प्रवर्तते।[3]

वस्तुत रससिद्धान्त ही काव्यशास्त्र का एकच्छत्र सम्राट् है, अन्य सिद्धान्त तो उसके सेवक हैं। अलकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य की सार्थकता रस के परिपोष मे ही है।

---

१ कविव्यापारवक्रत्वप्रकारा सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येक बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिन ॥
(व० जी० १. १८)

२. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, १.५

३. भरत, नाट्यशास्त्र, पृ० २७२, बड़ौदा

आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। जीवन मे आनन्द का स्थान सर्वोपरि स्वीकृत किया गया है। उपनिषदो मे कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है तथा आनन्द से ही अखिल भूतो की उत्पत्ति होती है। उसी से उनका जीवन धारण होता है और अन्त मे आनन्द मे ही उनका पर्यवसान भी हो जाता है।[1] काव्यशास्त्र मे इस आनन्द की व्याख्या रस रूप मे की जाती है। काव्य का परम आनन्द रस है। काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि चाहे कुछ भी हो, उसका असाधारण तत्त्व रस ही है इसमे कोई विसवाद नही। काव्य के निरतिशय सुखास्वादरूप आनन्द की उपलब्धि का साधकतम तत्त्व रस ही माना गया है। प्राय सभी आलकारिको ने विना किसी विप्रतिपत्ति के रस को काव्यात्मा का स्थान दिया है। इस प्रकार रस काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही नही, अपितु उसका सर्वस्व है।

इस रस की निष्पत्ति कैसे होती है, इसके सम्बन्ध मे सर्वप्रथम भरतमुनि ने कहा—**विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति।**[2] रति, शोक, क्रोध आदि स्थायिभाव सहृदयो के हृदय मे सस्कार के रूप मे सुप्त पडे रहते हैं। विभावो, अनुभावो, व्यभिचारिभावो का समुचित सयोग जब काव्य-नाटकादि मे सपन्न देखा जाता है, तो वे भाव उद्बुद्ध होते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के रससूत्र का विश्लेषण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीपक की रश्मिया अधकारस्थ पदार्थ को प्रकाशित करती हैं, उसी प्रकार विभाव आदि सहृदय के हृदयलीन भावविशेषो को उद्बुद्ध करके उन्हे रसदशा की ओर ले जाते हैं। काव्य या नाट्य मे सहृदय के उद्बुद्ध, ये स्थायी भाव ही रस हैं।

सहृदय के हृदय मे वासनारूप मे स्थित स्थायी भाव जाग्रत होकर आनन्दरूप कैसे हो जाते है, इस रहस्य का उद्घाटन किया भट्टनायक ने। इस प्रक्रिया का नाम उन्होंने भावकत्व व्यापार रखा जिसे साधारणीकरण कहते हैं। लोकव्यवहार मे राम, सीता

---

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिविशन्ति।

(तै० भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक)

२. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ६३, १९४३

आदि की रति आदि चित्तवृत्ति नित्य व्यक्तिसम्बद्ध होती है। अत एव उसमें नित्य स्वकीयत्व या परकीयत्व की सीमाएं रहती हैं। लोक में जब हम प्रेम करते हैं या शोक का अनुभव करते हैं, तो वह रति या शोक देश, काल और व्यक्ति की सीमा से बंधा लौकिक ही होता है। इस रति का सुख या शोक का दुःख लौकिक ही होता है। किन्तु वही चित्तवृत्ति जब नाट्य या काव्य में विभावानुभावादि की सामग्री से द्योतित होती है, तब वह लौकिक व्यक्ति-बन्धन से मुक्त हो जाती है। व्यक्तिबन्धन से मुक्त होने से ही वह चित्तवृत्ति साधारणीभूत होती है। रस की आनन्दमयता का रहस्य चित्तवृत्ति की इस साधारणीभूतता में निहित है। जिस प्रकार योगी समाधि की दशा में स्वगत, परगत, तटस्थगत भावनाओं से ऊपर उठकर, आत्मलीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी जब स्व-पर भाव से ऊपर उठकर साधारणीकृत मनोवृत्ति में स्थित होता है, तब उसे रस की अनुभूति होती है। स्वकीय-परकीय का भाव हृदय की ग्रन्थि है, जो आत्मा के आनन्दस्वरूप को आच्छादित किए रहती है। योगी यमनियमादि उपायों से इस ग्रन्थि को तोड़कर आत्मा की इस मुक्तावस्था में पहुँच कर आनन्द में विश्रान्ति प्राप्त करता है और सहृदय काव्य तथा नाटक में विभावानुभावादि के माध्यम से मन की वीतविघ्न स्थिति में पहुँच कर आनन्दलाभ प्राप्त करता है।

इस प्रकार भट्टनायक ने एक महत्त्वपूर्ण बात बताई है कि रसास्वाद के लिए सहृदय की चित्तवृत्ति तथा विभावादि का साधारणीकरण होना चाहिए। विभावादि जब तक अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध है, तब तक सहृदय उनका भोग नहीं कर सकता। किन्तु जब इन्हीं का साधारणीकरण होता है, उस समय ये व्यक्तिनिरपेक्ष तथा देश, काल और अवस्था से रहित होकर उपस्थित होते हैं। तब रसिक इनका आस्वाद लेता है। साधारणीकृत चित्तवृत्ति एवं विभावादि का स्वाद ही रस है।

भट्टनायक और उनके समकालिक अभिनवगुप्त ने काव्य तथा नाट्य से प्राप्त आनन्द का विश्लेषण करते हुए उस पर दर्शनशास्त्र की गहरी परत चढ़ा दी। उन्होंने रस को लौकिक भूमि से उठाकर अलौकिक ब्रह्मानन्द के धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। इससे उन्होंने न केवल रस की आनन्दमयता की समस्या का समाधान किया, अपितु

रस को ही काव्य का परम सर्वस्व स्थिर किया। रस की आनन्दमयता का रहस्य उस अनुभूति मे छिपा है, जहा योगी के समान सहृदय भूमा की पराकाष्ठा पर पहुँचता है। उपनिषद् कहती हैं—**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।**[1] जब तक रति आदि चित्तवृत्ति का अनुभव लोक की सीमा मे होता है तब तक वह अल्पता या क्षुद्रता की ही स्थिति है। परन्तु, काव्य की भूमि मे गुणालकारोपस्कृत व्यजक शक्ति से सुसज्जित भाषा के प्रयोग से तथा नाट्य मे विविध आतोद्य, गीत, नृत्य, अभिनय-कौशल तथा रगमच की साजसज्जा से सहृदय का चित्त लौकिक सीमा से ऊपर उठने लगता है। वह स्व पर भाव को विस्मृत करने लगता है। धीरे धीरे वह उस दशा मे पहुँच जाता है जहा उसके मन मे स्वकीय-परकीय का भाव ही नही रहता। वह सबको अपने मे देखने लगता है। उसके क्षुद्र व्यक्तित्व का विलोप हो जाता है और वह उपनिषद् की भूमा की स्थिति मे पहुँचता है। उस स्थिति मे उसे आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द योगी की समाधि के आनन्द का समकक्ष हो जाता है। जैसा कहा गया है—

> पाठ्यादथ ध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
> तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्।
> ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
> व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः॥[2]

इस प्रकार देश, काल और व्यक्ति की सीमा के विगलन से शुद्ध चैतन्य अवभासित होने लगता है। सहृदय के अनुभूयमान रत्यादि भाव स्व चैतन्य से सवलित होकर आनन्दमय बन जाते हैं। इस विचार से भारतीय साहित्यशास्त्र मे रस का स्वरूप प्रकाशमय, आनन्दमय तथा अखण्ड सिद्ध हुआ है।

आचार्य विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त द्वारा सस्थापित रस के स्वरूप को सुन्दर रूप से समाहृत किया—

---

१ छा०, ७.२३ १

२ उद्धृत महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, पृ० ६४, चौखम्बासस्करण, बनारस, १९३६

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादमहोदरः ॥[1]

यद्यपि ब्रह्मानन्दस्वरूप होने के कारण रस एक ही होना चाहिए, फिर भी उपाधिभेद से रस को नौ प्रकार का माना गया है। रति से सवलित चिदानन्द शृङ्गार, शोक से सवलित करुण, भय से सवलित भयानक। इस प्रकार आनन्द एक होने पर भी अनेक नामों से अभिहित हुआ।

रस को ब्रह्मानन्दमहोदर कहकर संस्कृत के आचार्यों ने करुण, वीभत्स, भयानक रसों की समस्या को भी सुलझा दिया। क्योंकि, रस स्वचित्निर्वृतिरूप है अत यह स्वात्मविश्रान्ति जिस किसी भी उपाय से हो उसमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार करुण में भी जब हम स्व-पर भाव से ऊपर उठकर शोक का साधारणीकृतरूप अनुभव करते हैं, तब वह शोक लौकिक न होकर अलौकिक होता है और उसकी अनुभूति आनन्दमय ही होती है, दु खमय नहीं।

कवि से लेकर सहृदय तक एक ही विश्व है तथा यह इन दोनों में व्याप्त है और यह रस ही विश्व है। भट्टतौत कहते हैं—कवि तथा श्रोता दोनों का समान अनुभव होता है।[2] अभिनवगुप्त भी कहते हैं—सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयते।[3] यह तत्त्व जो कवि तथा सहृदय को एक सूत्र में बांधता है, रसतत्त्व ही है। रससिद्धान्त की इससे बढ़कर और क्या प्रतिष्ठा हो सकती है?

रस के अन्तर्गत शृङ्गार, वीर, करुण आदि रसों के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण होता है। भावादिक को भी आस्वादन-रूप रसनधर्म होने के कारण रस कहा जाता है। जैसे विश्वनाथ कहते हैं—

---

१. सा॰ द॰ ३ २

२. नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः
(उद्धृत : ध्वन्यालोकलोचन, पृ॰ १७०, कु॰ स्वा॰ रि॰ इ॰, १९४४)

३ ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३, कु॰ स्वा॰ रि॰ इ॰, १९४४

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धि शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसा ॥[1]

०२.६ ध्वनि

कवि के हृदय मे जो कुछ स्पायित रहता है, उसे अशेषरूप मे प्रकाशित करने का उपकरण है भाषा। उसमे स्वय एक प्रकार की कलात्मकता वर्तमान रहती है। लोकव्यवहार की भाषा मे प्रत्येक शब्द का सकेतित अर्थ ही पर्याप्त है। परन्तु सकेतित अर्थ के अतिरिक्त शब्द का ध्वन्यमान अर्थ भी होता है जो काव्य को रमणीय एव हृद्य बनाता है। शब्द की ध्वन्यमानता भाषा को कलात्मक बनाती है और उसे लोकप्रचलित भाषा से भिन्न करती है। ध्वनिसिद्धान्त का मूल भाषा के इस कलात्मक प्रयोग मे निहित है। जब तक भाषा मे ध्वननशक्ति अथवा परमरमणीय प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यजन का कौशल नही आता, तब तक वह काव्य के चरमशिखर पर आरूढ नही हो सकती।

भाषा के सामान्य एव कलात्मक प्रयोग को स्पष्ट करते हुए ध्वनिसिद्धान्त के सस्थापक आनन्दवर्धन ने कहा है कि महाकवियो की वाणी मे प्रतीयमान अर्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का लावण्य है। यही सहृदयो को ज्ञात होता है। यह अर्थ काव्य के अन्य बाह्य उपकरणो से सर्वथा भिन्न रूप मे प्रकाशित होता है। जैसे स्त्रियो मे लावण्य जैसी चमत्कारी वस्तु शरीर के बाह्य अवयवो या अलकारो मे सर्वथा भिन्नरूप मे प्रकाशित होती है, ऐसे ही काव्य मे व्यग्य की प्रतीति होती है। रमणियो मे विद्यमान यह लावण्य सहृदयो को चमत्कृत करता है, इसी प्रकार व्यग्य भी रसिको को आनन्दित करता है।[2]

---

१. सा० द० ३ २५६

२. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवागनासु ॥
(ध्वन्यालोक १.४)

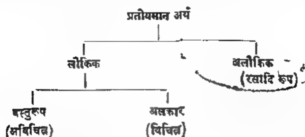
इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त का परमतत्त्व यह है कि भाषा में साधारण वाच्यार्थ से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को व्यंजित करने की शक्ति होनी चाहिए। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ ही सहृदयहृदयानुरंजक होता है, अत यदि कवि की भाषा में उसे व्यक्त करने की सामर्थ्य न आई तो वह अपने उद्देश्य में विफल हो जाता है। समग्र रूप से प्रतीयमान जो अर्थ है वही कवि द्वारा निवेदनीय अर्थ की पराकाष्ठा है। पर यह अभिव्यंजित हो, ध्वनिसिद्धान्त की बस यही एक शर्त है। प्रतीयमान अर्थ का कदापि अभिधान नहीं होना चाहिए, उसका शब्दों में प्रतिस्फुरण ही होना चाहिए। इस प्रकार यदि कवि प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यंजन की दृष्टि में शब्दयोजना करेगा, तो उसे कविमण्डली में उच्च स्थान प्राप्त होगा। सहृदयहृदयहारी काव्य का ऐसा कोई रूप नहीं है, जहां प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से रमणीयता न आ जाए। अत आनन्दवर्धन ने इसे परम काव्यरहस्य कहा है। प्रतीयमान अर्थ तथा उसके अभिव्यंजक शब्द तथा शब्दसमूह की विशिष्टता होना महाकवित्व का गमक है। कवि की महाकवित्व की पदप्राप्ति वाच्य और वाचक के वैचित्र्य से नहीं होती, अपितु व्यंग्य और व्यंजक के उचित प्रयोग से ही होती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की महिमा से ध्वनिसिद्धान्त का महत्त्व स्थापित किया। इस प्रतीयमान अर्थ पर ही ध्वनिसिद्धान्त का प्रासाद प्रतिष्ठित हुआ।

अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान के दो रूपों की ओर निर्देश किया है—लौकिक तथा अलौकिक।[1] व्यंग्यार्थ का वह रूप जिसे हम चाहें तो वाच्यार्थ के रूप में भी प्रकाशित कर सकें, उसका लौकिक रूप है। जो व्यंग्य हम सूर्य अस्त हो गया से प्रकट करना चाहते हैं उसे अभिधा से ही कह दें कि अब काम समाप्त करो, प्रतीयमान का लौकिक रूप है। परन्तु प्रतीयमान का एक और भी रूप है जो इससे विलक्षण है। वह कभी शब्दों द्वारा वाच्य नहीं हो सकता। रसरूप प्रतीयमान कभी स्वशब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता, वह तो आस्वादन

---

१. तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। (ध्वन्यालोक १.४, कारिका पर 'लोचन')

का ही विषय है, अत वह अलौकिक प्रतीयमान है। इस प्रकार प्रतीयमान के ये रूप उभरते है—



यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य मे प्रधान रूप से अवस्थित होता है, तब उस प्रधान व्यग्य को ध्वनि कहते है। प्रतीयमान के प्रधान न रहने पर उसे गुणीभूत व्यग्य कहते हैं। इस प्रकार लौकिक प्रतीयमान की प्रधानता होने पर वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि तथा रसादिरूप अलौकिक प्रतीयमान की प्रधानता मे रसादिध्वनि होती है।

ध्वनिसिद्धान्त मे प्रतीयमान की सत्ता ही पर्याप्त नही है, उसका वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होना भी अपेक्षित है, क्योंकि प्रधान रूप मे अवस्थित प्रतीयमान जितना शोभावर्धक होता है, उतना गौण रूप मे नही। इसीलिए ध्वनि का लक्षण करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

वाच्यातिशायिनि व्यग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।

—सा० द० ४ १

भाव का आविर्भाव भाषा के माध्यम से होता है, इसलिए आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की अभिव्यक्ति की दो सरणिया मानी हैं, अभिधा के माध्यम से तथा लक्षणा के माध्यम से। और, इनके आधार पर ध्वनि के दो प्रमुख भेद किए है—अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि), लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य ध्वनि)। इन दोनो वृत्तियो को स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने तीसरी वृत्ति व्यजना की भी कल्पना की। अल्प से अधिक की प्रतीति कराने की सामर्थ्य व्यजना मे ही है, अभिधा-लक्षणा मे नही। इसी व्यंजना से भाषा मे कलात्मकता आती है। व्यजना की ही यह विशेषता है कि इससे प्राप्त अर्थ न कोश मे होते है न

व्याकरण में । इससे गृहीत अर्थ सहृदयों के हृदय मे अवस्थित रहते हैं। अत एव आनन्दवर्धन कहते हैं—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

—ध्वन्यालोक १ ७

कई बार व्यंग्य की प्रतीति क्रमपूर्वक धीरे धीरे होती है और कई बार क्रम होते हुए भी उत्पलशतपत्रव्यतिभेदन्याय से तुरन्त हो जाती है। क्रम होने पर भी सहृदय को वह बहुधा अवभासित नहीं होता। इस दृष्टि से अभिधामूलध्वनि के संलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य दो भेद किए गए हैं। रसादिरूप व्यंग्य असंलक्ष्य-क्रम तथा वस्तु और अलंकाररूप व्यंग्य संलक्ष्यक्रम है।

जिस प्रकार व्यंग्यमुख से ध्वनि के तीन भेद होते हैं—(१) वस्तु ध्वनि (२) अलंकार ध्वनि (३) रसादि ध्वनि, उसी प्रकार व्यंजकमुख से भी ध्वनि के भेद प्रभेद होते हैं। शब्दार्थ ध्वन्यर्थ के व्यंजक होते हैं। व्यंग्यार्थ शब्दार्थों के द्वारा अनेक प्रकारों से ध्वनित हो सकता है। कभी पदार्थ से ध्वन्यर्थ व्यक्त होता है और कभी वह सम्पूर्ण वाक्य से भी सूचित होता है। केवल वाक्य या पद की क्या बात, ध्वन्यर्थ की प्रतीति तो प्रकृति, प्रत्यय आदि भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों से भी होती है। जैसे—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः ...[१]

में व्यंजकता की विविधता चरम सीमा पर है।

ध्वनि का उपयोग काव्य की सृष्टि में बहुत ही अधिक है। ध्वनि का आश्रय लेकर कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में विकसित होती है। काव्य में कथनप्रकार का ही विशेष महत्त्व होता है। वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णनप्रकार में विभिन्नता तथा नवीनता है, तब वह हमारे लिए नवीन तथा चमत्कार-युक्त प्रतीत होती है। ध्वनि से युक्त काव्य की भी यही दशा है।

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, पूना, पृ० ३०४

अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का सयोग उसमे नवजीवन का सचार कर देता है। यही कारण है कि अलकार, गुण, रीति सिद्धान्तो के रहते भी ध्वनिसिद्धान्त काव्य का परम निकपोपल बन गया।

० २ १० औचित्य

काव्यकला से सम्बद्ध ऐसा कोई तत्त्व नही जो रस ध्वनि से सम्पृक्त न हो जाता हो। रसध्वनि सब सिद्धान्तो की अग्रणी है। परन्तु रसध्वनि का भी यदि कोई प्राण हो सकता है तो औचित्य। अत एव रसवादी कहते है—यदि रसभग का परिहार करना है, तो अनौचित्य का परिहार करो। सम्भवत यही कारण है कि भरत के समय से औचित्य का विचार प्रारम्भ होता है। आनन्दवर्धन तथा महिमभट्ट जैसे आचार्यो ने औचित्य को सैद्धान्तिक पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास और आगे बढाया और औचित्य का अभिषेक क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा मे किया।

कविकल्पना वास्तविकता से अतिशयिता की ओर, यथार्थ से स्वच्छन्दता की ओर, जहा तक चाहे उड सकती है, परन्तु वह होनी औचित्य की परिधि मे ही चाहिए। क्या अलकार, क्या गुण, क्या रीति, सबका नियामक तत्त्व यदि कोई हो सकता है तो औचित्य ही। औचित्य का सबन्ध हमारी नैतिकता, सामाजिक मान्यता तथा आस्था एव विश्वास के साथ है। कवि को निरकुश होने की छूट दी गई है, परन्तु वह चाहे कितना भी उड ले, उसे औचित्य के धागे से बधे ही रहना चाहिए। भाव यह है कि पृथ्वी से आकाश तक उडने पर भी कवि की कल्पना मानवीय सस्कृति के अनुपयुक्त एव विरुद्ध नही होनी चाहिए। कलाकार द्वारा निर्मित वातावरण मे जब सहृदय निमग्न होता है, तो ऐसी कोई बात नही आनी चाहिए जो उसके आनन्द मे बाधक हो।

औचित्य शब्द उचित से निष्पन्न है। उचित से तात्पर्य है—किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के अनुरूप होना। इस औचित्य की कल्पना कोई नवीन नही है। यह ठीक है कि इसको साहित्य मे एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान कराने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र हैं, पर इसकी परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र

मे औचित्य का आधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए लिखा गया है—जो लोकसिद्ध है यह सब अर्थों मे सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोकस्वभाव से हुआ है, अत नाट्यप्रयोग मे लोक ही प्रमाण है।[1] आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि उसकी भाषा, भाव तथा कार्य पात्रानुरूप होने चाहिए। उन्ही के शब्दो मे—

> वयोऽनुरूप प्रथमस्तु वेष,
> वेषानुरूपश्च गतिप्रचार ।
> गतिप्रचारानुगत च पाठ्य
> पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य ॥
>
> —नाट्यशास्त्र १४ ६८

इसके बाद दण्डी ने औचित्य का सकेत उपमा के प्रसग मे किया। वस्तुत भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट आदि आचार्यो का दोष विवेचन एक प्रकार से औचित्य के अभाव या अनौचित्य की ही व्याख्या है।

औचित्य की सर्वप्रथम स्पष्ट व्याख्या करने वालो में आनन्दवर्धन का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने औचित्य का बडे विस्तार से विवेचन किया, पर लक्षण करने की ओर उनकी कोई विशेष प्रवृत्ति न रही। लक्षण की दृष्टि से कुन्तक भी हमारे सामने आते हैं। उन्होने औचित्य का लक्षण करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहां वक्ता या श्रोता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो, उसे औचित्य कहते हैं।[2]

---

१ लोकसिद्ध भवेत्सिद्ध नाट्य लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाण लोक इष्यते ॥
नानाशीला प्रकृतय शील नाट्ये प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोक प्रमाण हि कर्तव्य नाट्ययोक्तृभि ॥
(ना० शा० २६. ११३-१६)

२ आंजसेन स्वभावस्य महत्त्व येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥
यत्र वक्तु प्रमातुर्वा वाच्य शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥
(व० जी० १. ५३-५४)

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहते हैं—जो जिसके योग्य है, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं, उसका भाव औचित्य है।[1]

यहां आचार्य का भाव है कि काव्य का सर्वातिशायी गुण सौन्दर्य होता है। वह कोई अनपेक्ष, असपृक्त, पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है। किसी वस्तु को उसी मे सीमित रखकर सीमित या असीमित नहीं कहा जा सकता। अभिज्ञानशाकुन्तल मे दुष्यन्त ने जब शकुन्तला का चित्र बनाया तो उसके आसपास का वातावरण भी चित्रित किया, इसका एकमात्र उद्देश्य सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा करना था।

औचित्य केवल काव्य की ही वस्तु नहीं, लोक मे इसकी पदे-पदे रक्षा होती है। अनुचित कार्य किसके हृदय को विक्षुब्ध करने वाला नहीं होता ? इसी बात को ध्यान मे रखते हुए क्षेमेन्द्र कहते है कि यदि लोक मे भी अनुचित स्थान मे अलकार पहन लिया जाए तो वह एकदम हास्यरस को पैदा करने वाला होगा।[2]

सही बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो लोक की ही रक्षा है, न साहित्य की। उसके बिना न कोई अलकार है, न कोई सौन्दर्य। औचित्य के बिना न केवल काव्य, अपितु व्यक्ति की भी पूजा नहीं हो सकती। निर्मर्याद पुरुष या कामिनी को कौन क्षमा कर सकता है। अत स्पष्ट है कि औचित्य के बिना, गुण, अलकार और रस से युक्त होने पर भी काव्य निर्जीव ही है। अत ठीक ही कहा गया है—

उचितस्थानविन्यासादलकृतिरलकृति ।
औचित्यादच्युता नित्य भवन्त्येव गुणा गुणा ॥
—औ० वि० च० ६

औचित्य पर विचार केवल भारत मे ही नहीं, अपितु विदेशो मे भी हुआ है। लागिनस ने अपने उदात्ततत्त्व-सम्बन्धी ग्रन्थ

---

१. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते ॥
(औ० वि० च० ७)

२. वही, ६

On the Sublime मे औचित्य को मान्यता दी है। अठारहवी सदी के महाकवि पोप ने औचित्य पर पूर्ण बल दिया है। उन्होने लिखा है—

> It is not enough no harshness gives offence
> The sound must seem an echo of sense
> Soft is the strain where Zephyr gently blows,
> And the smooth stream in smoother number flows
> But when loud surges lash the sounding shore
> The hoarse rough verse should like a torrent roar.
>
> —*Essay of Criticism*

अर्थात् "कविता मे केवल उद्वेगकारी कर्ण कटुता का अभाव ही पर्याप्त नही माना जा सकता, प्रत्युत शब्द, भाव की प्रतिध्वनि के रूप मे होना चाहिए। मलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों मे सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए। मद मद-प्रवाही निर्झर और भी सुकोमल पदो मे प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचण्ड झझावात के थपेड़े खाकर भीषण ऊर्मिया किनारो से टकराती हैं, तब ओजस्वी पद भी तुमुल प्रवाह की भाति घोर गम्भीर गर्जन करते हैं।" कहना न होगा कि पोप का इस प्रकार का सकेत भारतीय आचार्यों के पदौचित्य तथा गुणौचित्य का ही उपलक्षण मात्र है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक युग की धारणाओ के अनुकूल है। इतना अवश्य है कि जहा आज का साहित्यकार अपने साहित्य को नियमो से सर्वथा मुक्त रखने की चेष्टा कर रहा है, वहा क्षेमेन्द्र आवश्यक नियमों के पालन की ओर ध्यान दिलाते हुए यथार्थ चित्रण मे ही स्वाभाविकता मानते हैं। इसका तात्पर्य है कि औचित्य वह तत्त्व है जिसने कवियो की लेखनीरूपी तूलिका से बने हुए कविता-कामिनी के मुखचन्द्र मे निखार तो किया ही, साथ ही ज्योत्स्ना का नवीन वैभव भी उसको प्रदान किया।

० २.११ औचित्य के भेद

औचित्य की व्याख्या करते हुए भेदो की सख्या गिनाने वालो मे आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाए, तो कुछ

अनुचित नहीं। उन्होंने छ प्रकार के औचित्य माने हैं—(१) रसौचित्य, (२) अलकारौचित्य, (३) गुणौचित्य, (४) सघटनौचित्य, (५) प्रबन्धौचित्य, (६) रीति औचित्य।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के २८ भेद माने हैं—

> पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलकरणे रसे
> क्रियाया कारके लिंगे वचने च विशेषणे।
> उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते
> तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसग्रहे॥
> प्रतिभायामवस्थाया विचारे नाम्न्यथाशिषि
> काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्य व्यापि जीवितम्॥
>
> —औ० वि० च० १०

आधुनिक काव्यशास्त्री महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री ने भी क्षेमेन्द्र का अनुकरण करते हुए काव्यागो मे औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—

> औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नया।
> गुणालकृतिरीतीना नयाश्चानृजुवाड्मया॥
>
> —*Highways and Byways of Literary Criticism*, p 27

०·३. वैदिक साहित्य में काव्यतत्त्वों का मूल

सामान्य धारणा यह है कि वेद धर्म का मूल है। परन्तु, धर्म ही क्या समस्त भारतीय चिन्तन, दर्शन व कला का मूल भी वेद ही है। भारतीय चिन्तन की ऐसी कोई धारा नहीं है जिसका उत्स वेद में न हो। क्या विज्ञान, क्या आयुर्वेद, क्या संगीत, क्या राजनीति, भाव यह है कि सब विद्याओं का मूल वेद है। इसी प्रकार काव्य का मूल भी वेद है।

वेदों तथा उपनिषदों के मन्त्र उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण हैं। उनमें परवर्ती साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि आदि काव्यतत्त्वों के पूर्वरूप तथा उनके निदर्शन प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि महाभारत और रामायण से प्रारम्भ होकर कालिदास, भारवि आदि के युग में जो काव्यपरम्परा प्रवाहित होती रही, उसका मूल वेदों और उपनिषदों में भी विद्यमान है। वैदिक ऋषि व्यास, वाल्मीकि के प्रेरक हैं। उन्होंने काव्य की परम्परा चलाई, काव्य प्रस्थान का निर्माण किया, जिस पर परवर्ती कवि चले और उनके पीछे पीछे कालिदास, भारवि, भवभूति आए। डा० राघवन ने ठीक ही कहा है कि लौकिक संस्कृतकाव्य जो आगे चलकर विकसित हुआ, यह उसी काव्य की परिणति है जिसकी सृष्टि ऋग्वेद के कवियों ने की थी।[1]

आज अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य के जिन तत्त्वों से हम परिचित हैं उनके साँचे में ही यदि हम वैदिक साहित्य की विच्छित्ति को ढालने का प्रयास करें और इस चश्मे को लगाकर ही हम वेद के काव्यसौन्दर्य को ढूँढें तो हमारा दर्शन एकांगी होगा। वैदिक साहित्य की काव्यसुषमा को परखने के लिए तो हमें अपने दृष्टिकोण को व्यापक करना होगा। अलंकार, गुण आदि की प्रवाहित धारा को उसके मूल

---

१ Classical Sanskrit poetry which blossomed forth later was the outcome of the poetry which the early authors of the Rigveda cultivated

(Dr V Raghvan, *Sanskrit Literature*, p 11, 1961)

रूप मे ढूढना होगा। प्रयाग और बनारस मे प्रवहमान भागीरथी को गंगोत्री मे खोजना होगा। हम सोचें कि काव्यशास्त्रियो के मन मे अलकार, गुण, रीति आदि सिद्धान्तो का विचार क्यो आविर्भूत हुआ। इसलिए कि इन्होंने वेदो, उपनिषदो तथा वाल्मीकि, कालिदास की कृतियो में काव्य के ऐसे हृदयावर्जक तत्त्व देखे जिन्हे परिभाषित एव व्यवस्थित करने के लिए इन्होने उन्हे अलकार आदि परिभाषाओ तथा सिद्धान्तो मे वर्गीकृत किया। अब जो वर्ग तथा कठघरे इन्होंने बना दिए, उनमे ही हम काव्य के आदिरूप, वैदिक विच्छित्ति को ठूंस दें, उसके अनुरूप ही उसे देखे तो यह हमारी अल्पदृष्टि होगी। वैदिक साहित्य के काव्यसौन्दर्य मे से तो हम ये कुछ तत्त्व निकाल पाए हैं और उन्हे अलंकार, रीति आदि अभिधानो से परिभाषित करते हैं। परन्तु, वैदिक काव्यसौन्दर्य तो अपरिमेय है। उसकी सुषमा का उद्घाटन तो होता ही रहेगा और उसके कई रूप बनते रहेगे। किं च क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः। वैदिक काव्यसौन्दर्य भी क्षण क्षण मे नवीन है। वैदिक उष सूक्त को पढिए, पुन पढिए, उसमे से सौन्दर्य की नवीन रश्मिया फूटेगी। उन्हे उपमा अलकार, छेकानुप्रास, वैदर्भी रीति के नाम से हम व्याख्यात करते है। जिसे भामह रूपक अलकार कहते हैं, जिसे वामन वैदर्भी रीति कहते हैं, जिसे ध्वनिकार ध्वनि तथा भरत रस कहते हैं, वे सब काव्य तत्त्व वेदो और उपनिषदो से ही निकले हैं। वैदिक ऋषि अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए कभी सरल सुखद वाक्य-योजना करता है, कभी उद्धत प्रचण्ड पदावलो का प्रयोग करता है। क्या वैदिक ऋषि की इसी वाक्य-सघटना ने रीतियो को जन्म नही दिया? इसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ऋषि के मुख से अनायास उपमानो की धारा प्रवाहित होती है। क्या यह सादृश्य या समता उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकारो का मूल नही है? भरतमुनि तो स्पष्ट कहते हैं कि चारो वेदो से मूलतत्त्व लेकर उन्होंने नाट्यवेद का निर्माण किया। गद्य-पद्य की अनेक विधाएं भी वेदो-उपनिषदो से आईं। काव्य का सौन्दर्य उषा के समान वैदिक साहित्य मे फूटा। अत वेद और उपनिषद् न केवल धर्म का मूल हैं, वे काव्य का भी मूल हैं—वेदोऽखिल काव्यमूलम्। जो शब्द और अर्थ की विच्छित्ति अलंकारशास्त्र मे अलकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के रूप मे व्याख्यात हुई, इन सब के मूल मे वैदिक ऋषियो के शब्दार्थ की विच्छित्ति है।

प्रतीत होता है कि अलकार, गुण, रीति आदि काव्य के तत्त्व ऋग्वेद से विकसित होते होते उपनिषद् काल तक आए और फिर महाभारत और रामायण में से आगे बढते हुए कालिदास, भारवि, माघ आदि के समय तक पूर्ण रूप से पल्लवित तथा पुष्पित हो गए। इनका पूर्ण परिपाक हो जाने पर ही लक्षणग्रन्थों में आचार्यों ने इनका प्रौढ विवेचन किया।

वेदो मे प्राप्त उपर्युक्त काव्यतत्त्वों के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं।

० ३ १ वेदो मे अलकार

अनुप्रास—

मादयध्व मरुतो मध्वो अन्धस ।

—ऋ० १ ८५ ६

मे म वर्ग की आवृत्ति से जो नादसौन्दर्य उत्पन्न हुआ वह बाद मे वृत्यनुप्रास बना। अथर्ववेद के ऋषि ने भी इस प्रकार के नादसौन्दर्य से अपनी ऋचाओं को विभूषित किया, जैसे—

असतालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला०

—अथर्व० ६ १६ ४

इसमे भी ऋग्वेद की परम्परा का अनुसरण करते हुए ल, स आदि ध्वनियों की आवृत्ति की गई है, जिससे यहा अनुप्रास के कारण शब्द-सौन्दर्य उभरा है।

उपमा—

कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
सस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षासि कृणुषे विभाती ॥

—ऋ० १. १२३. १०

मे उषा की रमणी के साथ तुलना करके उसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया गया है। उषा कन्या की भाति अपने शरीर को स्पष्ट प्रकाशित करती है। वह एक प्रगल्भ युवति की भाति मुसकराती हुई सूर्य के सामने अपने वक्षस्थल को खोलती है।

जिस प्रकार रमणी अपने सौन्दर्य को विवृत करके रसिक को आकृष्ट करती है, उसी प्रकार उषा भी अपने सौन्दर्य को प्रोद्घाटित करके दर्शक को मुग्ध करती है। उपमा के इस अनायास प्रयोग से ऋषि ने उषा के दिव्य सौन्दर्य को व्यजित किया है। इसी परम्परा के अनुसरण मे अथर्ववेद का ऋषि भी सुन्दर उपमानो की योजना से अपने काव्य को अलकृत करता है, यथा—

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।

—अथर्व० ३ ११ ८

यहा गौ तथा रस्सी की उपमा से सुन्दर रूप से भावाभिव्यक्ति हुई है।

उपमा की यह परम्परा उपनिषदो मे भी प्रवाहित हुई है और वहा भी अनेक सुन्दर तथा उपयुक्त उपमानो का प्रयोग हुआ है। यह परम्परा नदी की धारा के समान निरन्तर बढती गई। रामायण और महाभारत मे यह सहस्रधा हो गई।

अतिशयोक्ति—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥

—ऋ० ४ ५८. ३

यहा ऋषि ने उपमेयभूत यज्ञ अथवा शब्दब्रह्म का निगरण करके उपमानभूत वृषभ का प्रतिपादन किया है। ऋषि के वर्णन की यह छटा काव्यशास्त्र मे रूपकातिशयोक्ति अलकार बनी। इसी का विकास अथर्ववेद मे भी उपलब्ध है, यथा—

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्ये्ना वय नि जनान्त्स्वापयामसि ॥

—अथर्व० ४ ५ १

यहा भी सूर्य को उपमानभूत वृषभ ने अन्त निगीर्ण कर लिया है। कवि का सूर्यवर्णन लोकातिक्रान्त है। अत अतिशयोक्ति के नाम से इस सौन्दर्य की व्याख्या हुई।

समासोक्ति—

स ईं वृषाजनयन् तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति त रिहन्ति ।

—ऋ० २. ३५. १३

यहा अग्नि पर वृष के व्यवहार का आरोप होने से उत्पन्न काव्यसौन्दर्य समासोक्ति है। अथर्ववेद मे भी हम समासोक्ति की सुषमा के दर्शन करते हैं, यथा—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती ॥

—अथर्व० १. २ ३

इस मन्त्र मे धनुपकोटि पर प्रत्यचा चढाना प्रस्तुत वर्ण्यविषय है। परन्तु परिषस्वजाना इस विशेषण से अप्रस्तुत स्त्रीपुरुष के आलिंगन का व्यवहार आरोपित प्रतीत होता है।

रूपक—

दिव्य सुपर्णोऽव चक्षि सोम ।

—ऋ० ९ ९७. ३३

एष वृषा कनिक्रदत् ।

—ऋ० ९ २८ ४

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ।

—ऋ० १०. १४६ ६

मे सूर्य पर सुपर्ण, सोम पर वृषभ तथा अरण्यानी पर माता का आरोप होने से रूपक अलकार का सौन्दर्य उभरता है।

अथर्ववेद मे भी रूपक की इस विच्छित्ति की झाकी देखी जाती है जो ऋग्वेद से उद्भूत हुई, यथा—

तस्यौदनस्य बृहस्पति शिरो ब्रह्म मुखम् ।
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषय प्राणापाना ।

—अथर्व० ११. ३ १-२

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठ वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्य विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञ ॥

—अथर्व० ४. ३४. १

इन मन्त्रो मे ऋषि ने ओदन के सिर को बृहस्पति, मुख को ब्रह्म, द्यावापृथिवी को श्रोत्र, सूर्य-चन्द्र को नेत्र तथा सप्तर्षियो को प्राणापान कहकर सागरूपक का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

रूपक के ऐसे प्रयोग से स्पष्ट है कि अथर्ववेद के समय तक ऋषि की अभिव्यक्ति मे आलकारिकता की वृद्धि हो रही थी और वैदिक भाषा साहित्यिक विकास की ओर अग्रसर थी। ऋषि अपने मनोभावो को अलकृत शैली मे व्यक्त करने लगे थे।

उत्प्रेक्षा—

ऋग्वेद मे उषावर्णन मे जहा उपमा के सुन्दर उदाहरण हैं, वहा उत्प्रेक्षा की भी विच्छित्ति दर्शनीय है, जैसे—

एषा श्येनी भवति द्विबर्हा ... ... ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव ... ॥

—ऋ० ५ ८०. ४

मे उषा पर श्येनी=शुभ्रवर्णा योषित् की सम्भावना की गई है। इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी ऋषि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति को प्राजल रूप प्रदान किया है, जैसे—

दिव्य सुपर्ण स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा।

—अथर्व० १३ २ ९

श्येनो नृचक्षा दिव्य सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।

—अथर्व० ७ ४१ २

यहा अरुणवर्ण उज्ज्वल सूर्य पर पक्षी की कल्पना की गई है।

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥

—अथर्व० ४ १५ ९

यहा उत्प्रेक्षा की सुन्दर छटा है, क्योकि वर्षा की स्थूल धाराओ की अजगर के रूप मे उत्कृष्ट कल्पना की गई है।

०३.२ वेदों में गुण

माधुर्य—

उद् वय तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥
—ऋ० १ ५०.१०

सुमङ्गलीरिय वधूरिमा समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्त वि परेतन ॥
—ऋ० १० ८५ ३३

स्वादो स्वादीय स्वादुना सृजा समद. सु मधु मधुनाभि योधी ।
—अथर्व० ५ २ ३

तत तन्तुमन्वेके तरन्ति० ।
—अथर्व० ६ १२२.२

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तर ।
मामित् किल त्व वना शाखा मधुमतीमिव ॥
—अथर्व० १ ३४ ४

मरुद्भि प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ।
आशामाशा वि द्योतता वाता वान्तु दिशो दिश ॥
—अथर्व० ४ १५ ७८

ऊपर उद्धृत मन्त्रो मे श्रुतिसुखद तथा समास-रहित कोमल पदो का प्रयोग होने के कारण माधुर्य गुण है। इस गुण से इन मन्त्रो मे नादसौन्दर्य तथा सुस्वरता मे वृद्धि हुई है।

ओज—

स हि शर्धो न मारुत तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनि ।
आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा ।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नर शुभे न पन्थाम् ।
—ऋ० १.१२७.६

हस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥
—ऋ० ४ ४० ५

हिरण्यशृङ्ग ऋषभ शातवारो अय मणि ।
दुर्णाम्न सर्वास्तृड्ढ्वाव रक्षास्यक्रमीत् ॥

—अथर्व० १९ ३६ ५

उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणां ऋष्टिभिर्यातुधानान ।

—अथर्व० ८ ३ ७

इन मन्त्रो मे विकट पद-योजना, कठोर वर्णो तथा जटिल पदसघटना के कारण ओज गुण है।

प्रसाद—

न नूनमस्ति नो श्व कस्तद्वेद यदद्भुतम ।
अन्यस्य चित्तमभि सचरेण्यमुताधीत वि नश्यति ॥

—ऋ० १ १७० १

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद भद्र तन्न आसुव ॥

—ऋ० ५ ८२ ५

स न पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवाना नामध एक एव त सप्रश्न भुवना यन्ति सर्वा ॥

—अथर्व० २ १ ३

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलाय चरति य प्रतङ्कम ।
द्वौ सनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद वेद वरुणस्तृतीय ॥

—अथर्व० ४ १६ २

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्ता पावमानी द्विजानाम ।
आयु प्राण प्रजा पशु कीर्ति द्रविण ब्रह्मवर्चसम ।
मह्य दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम ॥

—अथर्व० १९ ७१ १

उपर्युक्त मन्त्रो मे सरल पद योजना है जिससे अर्थ की अनायास प्रतीति होती है, अत यहा प्रसाद गुण है।

०.३.३ वेदों में रीति

वैदर्भी—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥
—ऋ० ४ ५८ ३

स गच्छध्व स वदध्व सं वो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्र समिति समानी समान मनः सह चित्तमेषाम् ।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥
—ऋ० १०.१९१ २-४

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम् ।
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया ॥
—अथर्व० ३ ३० २-३

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापति ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घास जिगीर्षति ।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्व१राभरत् ॥
—अथर्व० ११ ५ १६-१९

गौडी—

दृळ्हा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे तेजिष्ठाभिर-
रणिभिर्दाष्ट्यवसेऽग्नये दाष्ट्यवसे ।
प्र य: पुरूणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा ।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा ॥
—ऋ० १ १२७ ४

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना
देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना
विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता
अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता
असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता
अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता
शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता
अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥

—अथर्व० १२ ५ (४) २८-३८

पाचाली—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥

—ऋ० १. ११३ १

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

—ऋ० १ १८९. १

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥

—ऋ० १०. ६३ १०

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥

—अथर्व० १४ १ १-२

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत संभृत पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिधः कृता ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥
मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशव सप्त सप्तती ।
राज्ञ सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥

—अथर्व० १९ ६ १३-१६

०३४ वेदों मे ध्वनि

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्र ॥

—ऋ० २.१२ (इन्द्रसूक्त) १

यहा जात एव मे पदगत ध्वनि है। इन्द्र ने उत्पन्न होते ही वह सामर्थ्य प्राप्त किया कि वह सभी देवताओं का राजा बन गया। बाद मे तो कोई भी अपनी शूरता-वीरता मे राज्य प्राप्त कर सकता है। पर इन्द्र तो उत्पन्न होते ही देवताओं का प्रधान बन गया। इस प्रकार एव शब्द ने इन्द्र के सामर्थ्य को अन्य की सामर्थ्य से पृथक् करके उसके माहात्म्य को द्योतित किया है।

इसी प्रकार—

परा हि मे विमन्यव पतन्ति वस्य इष्टये ।
वयो न वसतीरुप ॥ —ऋ० १ २५ (वरुणसूक्त).४

इस मन्त्र मे शुन शेप द्वारा वरुण की स्तुति की जा रही है। उपमालकार द्वारा ऋषि ने यहा बताया है कि जिस प्रकार सायकाल मे पक्षिगण जीवनकल्याण की भावना से स्वत ही घोसलो की ओर दौडते हैं, इसी प्रकार वरुण की भक्ति होने पर सुखमय जीवन मेरी ओर स्वत दौडा आता है। इससे तात्पय निकला कि वरुण की भक्ति सुखमय जीवन प्रदान करने वाली है। अत वरुण ही सेव्य है।

इसी प्रकार—

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।

—ऋ० १०.९० (पुरुषसूक्त).२

इस मन्त्र में भाविक अलंकार वाच्य तथा उससे 'सम्पूर्ण विश्व परमात्मरूप ही है। दृश्यमान जगत् तो एकमात्र जीवों के फलभोग के लिए परमात्मा द्वारा स्वशक्तिविरचित हैं', यह व्यंग्य है।

०३५ वेदों में औचित्य

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः ।

सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान् न नेमिः परि ता बभूव ॥

—ऋ० १.३२(इन्द्रसूक्त) १५

यहां वज्रबाहु विशेषण इन्द्र के लिए है। कितना ही बलवान् भी रिक्त-हस्त भला शत्रुओं का प्रतिरोध कैसे करे, और कौन उससे डरे, पर साधारण व्यक्ति भी यदि चमकीले शस्त्र को धारण कर मैदान में आ जाय तो उसके सामने कौन डटे। यहां भी ऋषि इसी हेतु इन्द्र के हाथ में वज्र देना चाहता है जिससे पर्वत भी उससे कांप उठें। अत. उचित स्थान पर प्रयुक्त यह विशेषण इन्द्र की विशेषता तो बता ही रहा है, साथ ही अर्थ में भी एक नूतन चमत्कृति प्रदान कर रहा है। अत. यहां विशेषणौचित्य है।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

—ऋ०१.१५४(विष्णुसूक्त).२

यहां विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए ऋषि ने उसकी उपमा के लिए मृग (सिंह) को रखा है। वह भी साधारण नहीं अपितु पूरे बल के साथ, और उसकी सहायता की भीम, कुचर, गिरिष्ठा ने। भयंकर जंगल तथा ऊंची पहाड़ियों पर अपने पौरुष से एकच्छत्र राज्य करने वाले शेर के प्रताप को कौन नहीं मानता? इसी प्रकार अपने शत्रुओं की छाती पर मूंग दलने वाले विष्णु के पराक्रम को कौन नहीं जानता? इसको बलपूर्वक प्रद्योतित करने के लिए उचित स्थान पर प्रयुक्त यह उपमेय-उपमानभाव अर्थस्फुटता के साथ चमत्कृति भी पैदा कर रहा है, अत यहां अलंकारौचित्य है।

१
अलंकार

१.१. वस्तुनिर्देश

अलकार कवि की उक्ति को सुन्दर बनाता है। इसके प्रयोग से शब्द-अर्थ इस प्रकार सौन्दर्य से खिल उठते है जिस प्रकार वसन्त ऋतु के स्पर्श से शुष्क वृक्ष। ऋग्वेद से प्रारम्भ कर अद्यावधि सम्पूर्ण साहित्य मे अलकारो का प्रयोग हुआ है। अलकार कवि के भाव को सुन्दर बनाने के साथ उसे सहृदय के हृदय मे प्रतिविम्बित भी करते है। 'मनुष्य आयु की वृद्धि के साथ बूढा होकर मर जाता है', यह कथन न तो कला की दृष्टि से सुन्दर है और न ही इस कथन मे विम्बग्राहकता है। परन्तु उपमा अलकार के प्रयोग मे उपनिषद् का ऋषि इसी भाव को न केवल रमणीय रूप मे उपस्थित करता है, अपितु उपयुक्त तुलना से इस भाव को पाठक के हृदय मे भी उतार देता है—सस्यमिव मर्त्यं पच्यते[1] जैसे सस्य पक जाता है वैसे ही मनुष्य भी। मनुष्य की सस्य से तुलना कितनी उपयुक्त है। प्रतिदिन हम सस्य को पकते तथा नष्ट होते देखते है। इसी प्रकार हमारे सामने सैकडो, हजारो व्यक्ति सस्य के समान पक कर जीर्ण हो जाते है, मर जाते है। इसी प्रकार महद्भयं वज्रमुद्यतम्[2] मे ब्रह्म की वज्र से तुलना करके ब्रह्म की शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता के अर्थ का ध्वनिनाद के साथ प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार भाषा को अलकृत करने तथा भाव के विम्ब को उतारने के लिए अलकारो का महत्त्व है। इसी कारण जब से काव्य की सृष्टि हुई, तभी से उसमे सहज रूप मे ही अलकार का उन्मेष हुआ।

काव्य की महत्त्वपूर्ण सम्पदा, इन अलकारो को परवर्ती साहित्य-शास्त्रियों ने तीन वर्गो मे विभाजित किया— (१) शब्दालकार, (२)अर्थालंकार, तथा (३)उभयालकार। और, अलकार का लक्षण किया—

> शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिन॰।
> रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥
>
> —सा० द० १० १

१. कठ० १. ६
२. वही, ६. २

१-२. शब्दालंकार

विश्वनाथ के अनुसार शब्दालकार वे हैं, जो शब्दपरिवृत्यसह होते हैं अर्थात् किन्ही विशेष शब्दो के रहने पर ही जो अलकार रहते हैं, और उन विशेष शब्दा को बदल कर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक अन्य शब्द रख दिए जाए तो उन अलकारो की स्थिति नही रहती। वे अलकार उन विशेष शब्दो के ही आश्रित होने से शब्दालकार कहलाते है, जैसे—अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि। इन शब्दालकारो मे शब्दविशेष के उसी रूप में बने रहने पर ही अलकार रहता है, शब्द परिवर्तन करने या उसका समानार्थक अन्य शब्द उसके स्थान पर प्रयोग करने से अलकार नही रहता। जैसे—'वेधा विदधे नूनम्'[1] मे वकार तथा धकार वर्णो की समानता से अनुप्रास अलकार है। यहा वेधा शब्द का समानार्थक प्रजापति शब्द उसके स्थान पर प्रयोग करने से वर्णसाम्य न रहने के कारण अनुप्रास अलकार नही होगा। अत वेधा विदधे इन शब्दो का इसी रूप मे प्रयोग होने से ही अनुप्रास अलकार है। इस प्रकार शब्द परिवृत्ति सहन न कर सकने के कारण अनुप्रास शब्दालकार है।

१ २ १ अनुप्रास

अनुप्रास अलकार से काव्य मे नाद-सौन्दर्य उत्पन्न होता है। ऋग्वेद मे लेकर आधुनिक साहित्य तक मे अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग देखने मे आता है। समान वर्णों की आवृत्ति से विलक्षण ध्वनि सौन्दर्य उत्पन्न होता है जिसमे अर्थ का ज्ञान न होने पर भी श्रोता समान वर्णों के उच्चारण मे प्रभावित हो जाता है। अनुप्रास की व्युत्पत्ति है—अनु—रसानुगत, प्र—प्रकृष्ट, न्यास—अनुप्रास अर्थात् रसादि के अनुकूल वर्णों का प्रकृष्ट सन्निवेश अनुप्रास अलकार है। अनुप्रास मे स्वरों का भेद होने पर भी केवल व्यजनो की समानता ही अभिप्रेत है।

---

१ कालिदास, रघुवंश, १. २६

विश्वनाथ ने अनुप्रास का लक्षण करते हुए लिखा है—

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

—सा० द० १० ३

अनुप्रास के पाच भेद किए गए है—

छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास ।

उपनिषदो मे अनुप्रास के अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत है—

छेकानुप्रास—

छेको व्यजनसघस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।

—सा० द० १०. ३

निम्नलिखित मन्त्रों में व्यजनसघ की एक या अनेक वार आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास अलकार है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—ईश० १ ८

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥

—केन० १. ३

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः ॥

—कठ० १ ६

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

—कठ० १. १७

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥

—मा० ५

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥
—बृ० २. ३. १

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योति. सम्राडिति होवाच । आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥
—बृ० ४ ३ २[1]

वृत्यनुप्रास—

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ।।
—सा० द० १० ४

निम्नलिखित मन्त्रों में एक व्यंजन की एक वार या अनेक वार अथवा अनेक व्यंजनों की एक वार या वार-वार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास अलंकार है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत. ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥
—ईश० ७

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥
—ईश० १२

केनेषित पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रैति युक्त ।
केनेषिता वाचमिमा वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ॥
—केन० १ १

इमा रामा सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यै ।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरण माऽनुप्राक्षी ॥
—कठ० १ २५

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च । तस्मान्मूर्तिरेव रयि ॥
—प्रश्न० १ ५

---

[1] अन्यत्रापि द्रष्टव्य —मु० १.२, छा० २ १ २, बृ० १.३.८, १ ३.१७, १ १ १३, १ ३ १४, १.३ १५, १ ३ १६, ४.३ ३, ४.३ ६, श्वे० २.१३

कामान् य कामयते मन्यमान स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा ॥
—मु० ३ २. २

एष सर्वेश्वर । एष सर्वज्ञ । एषोऽन्तर्यामी । एष योनि सर्वस्य ।
प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ —मा० ६

भृगुर्वै वारुणि । वरुण पितरमुपससार । ··· । त होवाच—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा ॥ —तै० ३ १. १

सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर ··· शाण्डिल्य ॥ —छा० ३. १४. ४

किं कारण ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन क्व च सप्रतिष्ठा ।
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥
—श्वे० १. १

छन्दांसि यज्ञा क्रतवो व्रतानि भूत भव्य यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध ॥
—श्वे० ४ ९[1]

लाटानुप्रास—

शब्दार्थयो पौनरुक्त्य भेदे तात्पर्यमात्रत ।
लाटानुप्रास इत्युक्त ··· ॥ —सा० द० १०. ७

शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होने पर अन्वयमात्र से तात्पर्य मे भेद हो जाने के कारण निम्नलिखित मन्त्रो मे लाटानुप्रास अलकार है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥
—केन० २ २

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —ईश० १.९; केन० १-१, १-५, १-६; केन० २.२, कठ० १.१५, १-१७, १. २०, १ २१, १.२४,१-२६-२६, २-८, २- १३, २.१६, २ २०; मु० १-२,४, ३.१-१; मा० ५. ११, श्वे० १. ५, १-६, १.९, १-१६, २.२, २ ४, ३ १०, ३ २, ४.१०. ४.१२, ५.६, ६.१०, ६.१४।

यहाँ तद्वेद-तद्वेद तथा वेद-वेद समानार्थक पदों की पुनरावृत्ति है, किन्तु एक वेद का न के साथ अन्वय कर देने से तात्पर्य में भेद हो जाता है। यथा, तद् न वेद, तद्वेद य च वेदेति न वेद अर्थात् 'जो उसे नहीं जानता वही जानता है और (जो कहता है) मैं उसे जानता हूँ वह नहीं जानता।' तात्पर्य यह है कि जो ईश्वरविषयक ज्ञान का अभिमान करता है, वह वस्तुतः उसे नहीं जानता, और जो ऐसे अभिमान से अलिप्त है वह उसे जानता है।

अन्त्यानुप्रास—

> व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
> आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥
>
> —सा० द० १० ६

पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति हो, तो वह अन्त्यानुप्रास कहाता है। यथा—

> यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
> यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥
>
> —कठ० ६ २

एवम्,

> इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
> सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
>
> —कठ० ६.७

यहाँ प्रथम मन्त्र के अन्त में लोके, लोके तथा द्वितीय मन्त्र के अन्त में उत्तमम्, उत्तमम् पदों की समानता से अन्त्यानुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास—

> उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
> सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥
>
> —सा० द० १०.५

तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यञ्जनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। यथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

इस मन्त्र में तालव्य श और स तथा ओष्ठ्य भ, और म वर्णों की आवृत्ति होने के कारण श्रुत्यनुप्रास अलंकार है।

१२२. यमक

अनुप्रास में व्यंजनों की आवृत्ति होती है तो यमक में स्वर-व्यंजन-समुदाय की आवृत्ति होती है। परन्तु, यह आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए। उसी क्रम की आवृत्ति न होने पर यमक नहीं होगा। आवृत्त वर्ण-समुदाय का एक अंश या सर्वांश या तो निरर्थक होना चाहिए और यदि वह सार्थक है तो उसका भिन्न अर्थ होना चाहिए। इस प्रकार दमो मोद में आवृत्ति होने पर भी क्रमभेद के कारण यमक नहीं है, तथा सर सर में यदि दोनों स्थलों पर तालाब यह एक ही अर्थ है तो क्रम से सर की आवृत्ति होने पर भी भिन्नार्थ न होने से यमक नहीं है।

विश्वनाथ ने यमक का लक्षण दिया है—

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥

—सा० द० १० ■

यथा—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

—ईश० ११

इस मन्त्र में विद्याम्, विद्याम् दो पदों की आवृत्ति है, किन्तु प्रथम विद्याम् पद सार्थक तथा द्वितीय विद्याम् पद अकार के बिना निरर्थक

होने से सार्थक और निरर्थक पदो का यमक है। इसी प्रकार द्वितीय पाद मे विद्या, विद्या की आवृत्ति मे प्रथम पद निरर्थक तथा द्वितीय सार्थक होने के कारण यमकालकार है।

> यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स ।
> अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम् ॥
>
> —केन० २ ३

यहा अविज्ञातम्, विज्ञातम् मे विज्ञातम्, विज्ञातम् तथा विजानताम्, अविजानताम् मे विजानताम, विजानताम् पदो की आवृत्ति होने से यमकालकार है।

विशेष—अमतम् मतम् में मतम्-मतम् की हो, निरर्थक और सार्थक वर्णों की आवृत्ति के कारण यमकालकार प्रतीत हो रहा है, परन्तु तृतीय मतम को यमक मे परिगणित नही किया जा सकता क्योंकि वह द्वितीय मतम् मे भिन्नार्थक नही। अत प्रथम पक्ति मे विरोधाभास अलकार मानना उचित होगा। केवल द्वितीय पक्ति मे ही सार्थक और निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति के कारण यमकालंकार है।

> तदेतदिति मन्यन्ते निर्देश्यं परम सुखम् ।
> कथ नु तद्विजानीया किमु भाति विभाति वा ॥
>
> —कठ० २. १४

यहा भाति भाति मे सार्थक और निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होने से यमकालकार है।

> यदेतद् हृदय मनश्चैतत । सज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टि-र्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति ·· ··· नामधेयानि भवन्ति ॥
>
> —ऐत० ३ १. २

यहा तीन बार ज्ञान की आवृत्ति हुई है, जो कि स्वर और व्यजन की समानता रखते हुए भी, तीनो बार निरर्थक होने के कारण यमकालकार है।

> एषां भतानां पृथिवी रस, पृथिव्या आपो रस,
> अपामोषधयो रस, ओषधीनां पुरुषो रसः,
> पुरुषस्य वागरसो, वाच ऋग्रस, ऋचं साम रस,
> साम्न उद्गीथो रस ॥　　—छा० १. १. २

यहा रस पद की सार्थक रूप से अनेक वार आवृत्ति होने पर भी प्रत्येक वार आश्रय, कारण, सार, कान्ति आदि भिन्नार्थ करने पर यमकालकार है।

क्षर प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्मानावीशते देव एक ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति ॥

—श्वे० १ १०

यहा क्षरम्, क्षरम् मे सार्थक और निरर्थक वर्णो की आवृत्ति के कारण यमकालकार है।

य एको जालवानीशत ईशनीभि सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभि ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ३. १

इस मन्त्र के प्रथम भाग मे ईशनीभि पद की आवृत्ति है, जो कि सार्थक होने पर भी शाकरभाष्य के अनुसार ईशनीभिः (स्वशक्तिभि), ईशनीभि. (परमशक्तिभि)—भिन्नार्थक है। अतः भिन्नार्थक रूप से ईशनीभि की आवृत्ति मानने से यहा यमकालंकार होगा। मन्त्र के द्वितीय भाग मे उद्भवे सम्भवे मे भवे भवे शब्दो मे निरर्थक वर्णों की आवृत्ति मानने से यमकालकार है।

१ २ ३ वक्रोक्ति

वक्र–कुटिल तथा विचित्र, उक्ति कथन वक्रोक्ति है। यद्यपि वक्र वचन सभी अलकारो का मूल है, जैसा कि भामह ने कहा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलकारोऽनया विना ॥

—का० अ० २. ८५

फिर भी रुद्रट के समय से वक्रोक्ति को पृथक् अलकार का स्थान मिला है। भामह की वक्रोक्ति, जिसके आधार पर कुन्तक ने स्वतन्त्र वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की, परवर्ती अलकारयुग मे सीमित होकर अनुप्रास, यमक आदि के समान साधारण अलकार मात्र रह गई।

वक्रोक्ति मे श्रोता द्वारा वक्ता के अन्यार्थक वाक्य को श्लेष या काकु के द्वारा किसी अन्य अर्थ मे ग्रहण कर लिया जाता है। इसी वक्रता मे वक्रोक्ति का सौन्दर्य है। इसकी गणना शब्दालकारो मे की जाती है, क्योकि इसम शब्द परिवृत्त्यसह होते हैं।

विश्वनाथ ने वक्रोक्ति का लक्षण किया है—

> अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
> अन्य श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥
>
> —सा० द० १० ९

वक्रोक्ति के मूल मे श्लेष या काकु होता है, अत वक्रोक्ति दो प्रकार की हो जाती है—(१) श्लेष-वक्रोक्ति और (२) काकु-वक्रोक्ति।

काकु-वक्रोक्ति—

काकु से तात्पर्य भिन्न कण्ठ-ध्वनि से है। जहा गले की आवाज से अर्थ म परिवर्तन किया जाए, वहा काकु-वक्रोक्ति अलकार होता है। यथा—

> स ईक्षत कथ न्विद मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृत यदि प्राणेनाभिप्राणित यदि चक्षुषा दृष्ट यदि श्रोत्रेण श्रुत यदि त्वचा स्पृष्ट यदि मनसा ध्यात यद्यपानेनाभ्यपानित यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति।
>
> —ऐत० १ ३. ११

इस मन्त्र मे कोऽहमिति (मै कौन हूँ ?) भाग मे कण्ठध्वनि से कुछ नहीं अर्थ की प्रतीति होने से काकुवक्रोक्ति अलकार है। इसी प्रकार,

> न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति । न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच ।
>
> —छा० १ १० ४

यहा न स्विद एते अपि उच्छिष्टा का सीधा अर्थ ये (कुल्माष) उच्छिष्ट नहीं है इस प्रकार है, किन्तु कण्ठ ध्वनि के परिवर्तन से क्या ये कुल्माष उच्छिष्ट नहीं हैं ? अर्थात् हैं इस अर्थ-परिवर्तन के कारण काकु-वक्रोक्ति है।

१.२.४. श्लेष

प्राय सभी भाषाओ मे एक वैचित्र्य है कि उनमे विभिन्न अर्थों के द्योतक कुछ न कुछ शब्द पाए जाते हैं। जो शब्द पहिले किसी विशेष अर्थ का बोधक होता था, वही कालान्तर मे किसी अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है। इस प्रकार एक ही शब्द अनेकार्थक बन जाता है। अलकारशास्त्र मे शब्द की इस अनेकार्थबोधक विच्छित्ति को श्लेष अलकार माना जाता है। इस अलकार की शोभा इस बात मे है कि एक ही कथन मे अनेक अर्थों की प्रतीति हो। एक शब्द से अनेक अर्थों का बोध इस अलकार मे वैचित्र्य लाता है। इस प्रकार यह अलकार मौलिक रूप मे अन्य अलकारो से भिन्न है।

श्लेष की व्युत्पत्ति है—श्लिष्यन्ते अर्था अस्मिन्निति श्लेषः। श्लिष् का अर्थ है—चिपकना, मिलना, जुडना। इस अलकार मे एक शब्द मे अनेक अर्थ चिपके रहते हैं। ये कभी जतुकाष्ठन्याय मे तथा कभी एकवृन्तगत-फलद्वयन्याय से जुडते हैं। अत श्लेषण (चिपकने) के कारण इस अलकार को श्लेष कहा जाता है।

भामह ने अप्रत्यक्ष रूप मे श्लिष्ट नाम से श्लेष को स्वीकार किया है। तदनन्तर, दण्डी ने श्लेष का काव्यगुण तथा अलकार के रूप मे प्रतिपादन किया। उद्भट ने भी इसे श्लिष्ट नाम से स्वीकार किया। सर्वप्रथम वामन ने श्लेष नाम का प्रयोग किया है। तत्पश्चात् रुद्रट, रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

श्लेष अलकार का महत्त्व इस बात मे है कि यह रूपक, समासोक्ति आदि अनेक अलङ्कारों के मूल मे विद्यमान रहता है। यह उपमा के समान स्वतन्त्र होने पर भी सकल अलङ्कारों का अनुग्राहक होने के कारण कवि के कथन मे नवीन शोभा का आधान करता है। दण्डी ने श्लेष के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्राय वक्रोक्तिषु श्रियम्।

—काव्यादर्श २. ३६३

विश्वनाथ ने श्लेष का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।

—सा० द० १०.११

श्लेष के प्रथम दो भेद हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष । शब्द-श्लेष के भेद हैं—सभंगश्लेष, अभंगश्लेष, उभयश्लेष । प्रकृति, प्रत्यय आदि के भेद से परवर्ती आचार्यों ने शब्दश्लेष के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन किया है । कुछ उदाहरण देखें—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥ —केन० ३.१२

इस मन्त्र में हैमवती शब्द में एकवृन्तगतफलद्वयन्याय से (१) हिमालय की पुत्री तथा (२) स्वर्णमयी, इन दो अर्थों की प्रतीति होने से शब्दश्लेष अलङ्कार है ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

—श्वे० ४.५

इस मन्त्र में अजा शब्द के प्रकृति तथा बकरी एवं अज शब्द के जीव तथा बकरा अर्थ होने से शब्द के परिवृत्त्यसहत्व के कारण शब्द-श्लेषालङ्कार है ।

१-३. अर्थालंकार

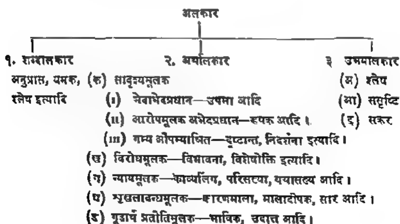
अर्थालकार शब्दपरिवृत्तिसह होते है अर्थात् यदि उनमे शब्दो का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिए जाए तो भी वहा अलकार की कोई हानि नही होती। ये अलकार शब्द के आश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते है अत अर्थालकार कहलाते है। जैसे—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि। यथा—

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।

—कठ० ३ ५

इस मन्त्र मे अवश इन्द्रियो की तुलना दुष्ट अश्वो से की गई है। अत यहा उपमा अलकार है। यह अर्थालकार है क्योकि 'दुष्टाश्वा' के स्थान पर 'दुष्टहया', दुष्टतुरगा आदि उसके किसी पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करने पर भी उपमा अलकार बना रहता है तथा उससे अर्थ के सौन्दर्य मे ह्रास नही होता। अत शब्द-परिवर्तन सहन करने के कारण एव समानार्थक अन्य शब्द का प्रयोग करने पर भी अलकार का सौन्दर्य यथावत् बने रहने से यहा उपमा अर्थालकार है। इसी प्रकार रूपक, उत्प्रेक्षा आदि भी अर्थालकार है।

इन अलकारो को पुन अनेक वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है, जैसे—सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, तर्कन्यायमूलक इत्यादि।



१.४. सादृश्यमूलक अर्थालंकार

वे अलकार, जिनका आधार तुलना या समानता है सादृश्यमूलक अलकार कहे जाते है , जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रान्तिमान् इत्यादि। मुख चन्द्र के समान है (उपमा), मुख चन्द्र है (रूपक), मुख मानो चन्द्र है (उत्प्रेक्षा), मुख है या चन्द्र (सन्देह), मुख नहीं, चन्द्र है (अपह्नुति)—इन सब अर्थालकारो में सादृश्य का भाव विद्यमान है। इन अलकारो का बीज सादृश्य है। अत सादृश्य के आधार पर अवस्थित होने के कारण इनको सादृश्यमूलक अलकार कहते है।

इन सादृश्यमूलक अलकारो मे भी कुछ अलकार, जैसे उपमा आदि, ऐसे हैं जिनमे सादृश्य होने पर उपमेय-उपमान मे भेद बना रहता है। अत इन्हे भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलकार कहते हैं। जैसे, मुख चन्द्र के समान सुन्दर है—इस उपमा मे मुख और चन्द्र मे भेद भी है और हृद्यत्व, रमणीयत्व आदि साधारण धर्मों के कारण अभेद भी। अत उपमा भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अर्थालकार है।

वे अलकार, जिनमे सादृश्य होने पर उपमान उपमेय मे आरोप मूलक अभेदप्रतीति होती है अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलकार कहलाते हैं। जैसे 'मुख चन्द्र हैं' यहा रूपक मे, 'मुख नही, चन्द्र है' यहा अपह्नुति मे, मुख (उपमेय) तथा चन्द्र (उपमान) की अभेदप्रतीति होती है। अत ये अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलकार हैं।

वे अलकार, जिनमे तुलना का अर्थ साक्षात् तुलनार्थक शब्दो मे वाच्य न होकर अनुक्त अर्थात् व्यग्य होता है, गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अलकार कहलाते है। जैसे—दृष्टान्त, दीपक आदि।

१.४.१. उपमा

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने सादृश्य, विरोध, लोकन्याय आदि के आधार पर अलकारो का वर्गीकरण किया है। इनमे सादृश्य-मूलक अलकारो का प्राण उपमा मानी गई है। अत एव सादृश्यमूलक

अलकारो मे सर्वप्रथम उपमा का ही विवेचन किया जाता है। काव्य-शास्त्र के आचार्यो ने मुक्तकण्ठ से उपमा की महिमा गाई है—

अलकारशिरोरत्न सर्वस्व काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवशस्य मातैवेति मतिर्मम॥

—राजशेखर, अलकार-शेखर के पृ० ३२ पर

मुख चन्द्र है (रूपक), मुख और चन्द्र शोभा देते है (दीपक), मुख है या चन्द्र है (सन्देह), मुख नही, किन्तु चन्द्रमा है (अपह्नुति) इत्यादि वाक्यो मे उपमा ही रूपक आदि सादृश्यमूलक अलकारो का बीज है।

उपमा सबसे प्राचीन अलकार है। वेदो, ब्राह्मणो, आरण्यको एव उपनिषदो तक मे तुलना के लिए उपमा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मैत्र्युपनिषद मे तो उपमा का अलकार के रूप मे उल्लेख है और इसके विभिन्न भेदो का भी विवेचन है। यास्क, भरत, अग्निपुराण-कार, भामह, उदभट, दण्डी आदि आचार्यो ने उपमा को अलकार के रूप मे स्वीकार किया है।

उपमा के लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण यह है कि इस अलकार मे वक्ता एक पदार्थ की अन्य पदार्थ से तुलना करके अपने भावो का सफलता तथा प्रभाव के साथ सम्प्रेषण करने मे समर्थ होता है। अत एव न केवल ऋग्वेद तथा अथर्ववेद, जिनमे उच्चकोटि के काव्यत्व का दर्शन होता है, अपितु दार्शनिक विचारधारा से ओतप्रोत उपनिषदो मे भी ऋषियो ने अपनी अभिव्यक्ति को सुन्दर रूप देने के लिए उपमा का खुल कर प्रयोग किया है।

उपमा मे दो परस्पर भिन्न पदार्थो की तुलना होती है और इस तुलना का आधार होते है ऐसे धर्म जो दोनो पदार्थो मे समान रूप से विद्यमान रहते है। जैसे मुख और चन्द्र दोनो विभिन्न पदार्थ है। मुख भूमि पर विद्यमान है, परन्तु चन्द्र आकाश मे। किन्तु आकृति, स्थान आदि के भेद से, एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी, दोनो मे समानता के सूचक हृद्यत्व, रमणीयत्व आदि कुछ साधारण धर्म होते है जिनके कारण मुख की चन्द्रमा से तुलना की जाती है। जैसे चन्द्रमा का दर्शन हृदय को आह्लादित करता है वैसे ही मुख भी। जैसे चन्द्रमा रमणीय

है वैसे मुख भी। गुणों की इस समानता के आधार पर ही मुख की चन्द्र से तुलना की जाती है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने जब कभी प्राकृतिक, बाह्य जगत् तथा आध्यात्मिक जगत् मे परस्पर साम्य का अनुभव किया उनकी वाणी उपमा से सुसज्जित हो गई। उषा का भव्य सौन्दर्य हो या दैत्याकार मेघो की विकट गर्जना, शान्त स्निग्ध समीर हो या प्रचण्ड प्रकम्पन, बाह्य जगत् का वर्णन हो या आध्यात्मिक चिन्तन, सर्वत्र सरल से सरल एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयो का प्रतिपादन करते हुए ऋषियो की अभिव्यक्ति उपमा के प्रयोग से न केवल स्पष्ट, सहज अपितु सुन्दर तथा प्रभावशाली भी बन पड़ी है। क्योंकि उपमा उलझ तथा गम्भीर विचारों को भी स्पष्ट तथा सुन्दर बना देती है, इसी लिये यह सर्वप्रिय है। ऋग्वेद के काल से आज तक, यहां तक कि जनसाधारण के वार्तालाप तक मे इस का खुलकर प्रयोग होता है। अन्य श्लेष, वक्रोक्ति आदि अलकारो की अपेक्षा उपमा वाणी का स्वाभाविक अयत्नसिद्ध अलकार है, इस कारण से भी इस अलकार का अत्यधिक महत्त्व है।

उपमा शब्द की व्युत्पत्ति है—उप+मा, उप (उपमानस्य) समीपे मीयते तुल्यतया परिच्छिद्यते उपमानेन कर्त्रा उपमेय कर्म अस्याम, इस व्युत्पत्ति से उपमा का यह स्वरूप स्पष्ट होता है कि इस अलकार मे दो विभिन्न पदार्थों की परस्पर सादृश्य के आधार पर समानता प्रदर्शित की जाती है। इस समानता का उद्देश्य होता है उपमेय का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रदर्शित करना। विश्वनाथ ने उपमा का लक्षण दिया है—

साम्य वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमा द्वयो ।

—सा० द० १० १४

आचार्यों ने उपमा के अनेक भेदप्रभेदो का विवेचन किया है। दण्डी ने उपमा के अनेक रूपो का विवेचन किया। उसके उपमा-भेद बाद मे स्वतन्त्र अलकार बन गए। मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उपमा के २५ भेद स्वीकार किए है। परन्तु इन भेदों का सौन्दर्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नही है, क्योंकि इन भेदो का आधार व्याकरण के कुछ नियम है, जैसे सादृश्यबोधक क्यङ्, क्यच् आदि प्रत्ययो का प्रयोग। पर, पूर्णोपमा और लुप्तोपमा ये दो भेद सर्वमान्य रहे है।

१.४२. पूर्णोपमा

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाची च ।

उपमेय चोपमान भवेद्वाच्यम् इय पुन ॥

—सा० द० १० १५

जहा उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म सभी वाच्य हो, वहा पूर्णोपमा अलकार होता है । यथा—

यस्तु विज्ञानवान भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥

—कठ० ३ ६

इस मन्त्र मे ऋषि ने विज्ञानवान् व्यक्ति की सयत इन्द्रियो की तुलना सारथि के वशीकृत घोडो से की है। यहा इन्द्रियाणि उपमेय सदश्वा उपमान, इव वाचक शब्द तथा वश्यानि साधारण धर्म है। उपमा के चारो घटको का स्पष्ट उल्लेख होने से यहा पूर्णोपमा है ।

यहा उपमा का प्रयोग किसी आलकारिक कवि के समान श्रमसाध्य न होकर अत्यन्त सहज रूप से हुआ है। दैनन्दिन जीवन से सम्बद्ध सारथि के वशवर्ती घोडो का उदाहरण देकर ऋषि को अपने भावसम्प्रेषण मे उपमालकार के इस अचिन्तित प्रयोग से अनायास ही अभीष्ट सफलता मिली है ।

उल्लेखनीय है कि औपनिषदिक कवियो मे रथ, घोडे, लगाम, सारथि आदि, जीवन मे प्रतिदिन दृष्टिगोचर होने वाले एव प्राय अनुभूत तथा प्रयुक्त भौतिक पदार्थों के माध्यम से आध्यात्मिक विषयो को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति अनेकत्र पाई जाती है। उपमान योजना के लिए उपनिषत्कार कल्पनालोक, दिव्यलोक अथवा महत्त्वपूर्ण पदार्थों का आश्रय न लेकर सामान्य जीवन मे प्राय उपलब्ध उपमानो का प्रयोग करते है। इसके सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित मन्त्रो मे देखे जा सकते है ।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥

—कठ० ३.५

इस मन्त्र में ऋषि ने अविज्ञानवान् व्यक्ति की इन्द्रियों की तुलना दुष्ट घोडों से की है। उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म का प्रयोग होने से यहा पूर्णोपमा अलकार है।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुन ॥

—कठ० १ ६

इस मन्त्र में कृषक जीवन में सामान्यत उपलब्ध उपमान के द्वारा कर्मवश जन्म और मृत्यु के नियम को कवि ने स्पष्ट किया है। यहा मर्त्य उपमेय, सस्य उपमान, इव उपमावाचक पद तथा पच्यते, आजायते (नाश और उत्पत्ति) साधारण धर्म है।

इसी प्रकार—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि । एतद्वै तत् ॥

—कठ० ४ ८

में भी जातवेदा उपमेय, गर्भ उपमान, इव उपमावाचक शब्द, निहित साधारणधर्म होने से पूर्णोपमा स्पष्ट है। जिस प्रकार गर्भिणियो द्वारा गर्भ सुरक्षित रखा जाता है, इसी प्रकार अरणि के अन्दर अग्नि सुरक्षित रहती है। यहां गृहस्थियों को समझाने के लिए गर्भ को उपमान बनाया गया है।

कठोपनिषद् में पूर्णोपमा के निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डितमन्यमाना ।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—कठ० २ ५

अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट ।
त स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

—कठ० ६.१७

इस मन्त्र में ऋषियो के व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध उपमान मुंजाद् इव इषीकाम् में स्थानीयरजन (local colouring) का रूप भी दर्शनीय है।

इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी पूर्णोपमा के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है। यथा—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥

—प्रश्न० २ ६

—जैसे रथ की नाभि मे अरें लगी हैं, वैसे ही प्राण मे ऋक्, यजुस, साम, यज्ञ, क्षत्र, ब्रह्म प्रतिष्ठित हैं।

यहा ऋक् आदि उपमेय, अरा उपमान, इव वाचक शब्द तथा प्रतिष्ठितत्व साधारण धर्म है। इस मन्त्र मे उपमा के आश्रय से प्रतिदिन प्रयोग मे आने वाले रथ के पहिए द्वारा समस्त दृश्यादृश्य पदार्थ प्राण मे प्रतिष्ठित है, जैसे गहन विषय को सुबोध बनाया गया है।

इसी उपमान का प्रयोग मुण्डकोपनिषद् के ऋषि ने भी किया है। देखिए—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।

—मु० २ २ ६

यहा नाडिया उपमेय, अरें उपमान, इव वाचक शब्द तथा सहता (विद्यमानता) साधारण धर्म है।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥

—प्रश्न० २ १३

यहा प्राण उपमेय, माता उपमान, इव वाचक शब्द तथा रक्षस्व साधारण धर्म है।

और भी—

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
तं वेद्य पुरुष वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥

—प्रश्न० ६ ६

—रथ की धुरा में अरों की भांति, जिस ईश्वर में सब कलाएं ठहरी हुई हैं, उस जानने योग्य पुरुष को तुम जानो, जिससे तुम्हें मृत्यु न पीडित करे।

यहां कला उपमेय, अरा उपमान, इव वाचक शब्द तथा साधारण धर्म प्रतिष्ठित रहना है, अतः पूर्णोपमा है।

> स य एष अन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय । अमृतो हिरण्मय । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते ॥
>
> —तै० १.६

इस मन्त्र में पुरुष उपमेय, स्तन उपमान, इव वाचक शब्द तथा अवलम्बते साधारण धर्म है।

इसी उपनिषद् में पूर्णोपमा के उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र दर्शनीय है—

> यथाप प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् ।
> एव मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वत ॥
>
> —तै० १ ४

> अहं ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतम् ।
>
> —तै० १ १०

में भी अहम् (पुरुष) उपमेय, वाजिनी उपमान, इव वाचक शब्द तथा पवित्र साधारण धर्म होने से पूर्णोपमा अलकार है।

पूर्णोपमा की दृष्टि से ऐतरेयोपनिषद् में भी इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यथा—

> गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
> शत मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥
>
> —ऐत० २.१ ५

छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध निम्न मन्त्र पूर्णोपमा का सुन्दर उदाहरण होने के साथ श्रेण्य संस्कृत के कवियों की उपमा की समकक्षता रखता है—

> तस्य यथा कप्यास पुण्डरीकमेवमक्षिणी··· ।
>
> —छा० १ ६ ७

इस मन्त्र मे अक्षिणी उपमेय, पुण्डरीकम् उपमान, यथा वाचक शब्द तथा साधारण धर्म कप्यासम् (कपिल रग) है। यहा पुन तत्कालीन एवं तद्देशीय जीवन के परिवेश मे से ही उपमान चुना गया है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के कवि ने भी आत्मसत्ता के स्फुरण की आश्रयभूत हिता नाम नाडियो की सूक्ष्मता का प्रदर्शन करने के लिए उपमा का आश्रय लिया है और उपमान बनाया है सहस्रधा काटे हुए केश को। यथा—

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केश सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति ···।

—बृ० ४ ३.२०

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे पूर्णोपमा के एक से एक सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते है। यथा—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।

—श्वे० १ १६

—जिस प्रकार दूध मे घी सर्वत्र व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक है।

यहां उपमेय आत्मा, उपमान सर्पि, वाचक शब्द इव, साधारण धर्म सर्वव्यापकत्व है।

प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्ट क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेन विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्त॥

—श्वे० २.९

इस मन्त्र मे मन उपमेय, वाहम् उपमान, इव वाचक शब्द तथा धारयेत साधारणधर्म निर्दिष्ट है। यहा पर विद्वान् पद कर्तृत्व का बोधक है, अत इस पर सारथित्व का आरोप किया जा सकता था, किन्तु रूपक की अपेक्षा उपमा का रूप अधिक स्पष्ट होने से इसे पूर्णोपमा ही कहा जाएगा।

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

—श्वे० ३.९

इस मन्त्र में पुरुष (ब्रह्म) उपमेय, वृक्ष उपमान, इव वाचक पद तथा स्तब्ध' तिष्ठति साधारण धर्म होने के कारण पूर्णोपमा अलकार है।

द्रष्टव्य है कि यहा भी ऋषि ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करने के लिए वन्य जीवन मे सदा के साथी, वृक्ष को ही उपमान बना कर सफलता प्राप्त की है। ऐसे उपमान द्रुतगति से तथा स्थायी रूप से हृदयगम हो जाते है।

घृतात्पर मण्डमिवातिसूक्ष्म ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै.॥
—श्वे० ४.१६

—जिस प्रकार घी के ऊपर का मण्ड अतिसूक्ष्म होता है, उसी प्रकार सभी प्राणियो मे शिव छिपा हुआ है।

यहा शिव उपमेय, मण्ड उपमान, इव उपमावाचक शब्द तथा अतिसूक्ष्मत्व साधारण धर्म है।

निम्न मन्त्र भी पूर्णोपमा अलकार के उदाहरण के रूप मे उल्लेखनीय है—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्।
एव स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥
—श्वे० ५.४

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभि प्रधानजै स्वभावत।
देव एक स्वमावृणोत् स नो दधाद्ब्रह्माव्ययम्॥
—श्वे० ६.१०

इस मन्त्र मे उपमा के द्वारा परमेश्वर की प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि जो परमेश्वर मकडी की भाति प्रकृति से उत्पन्न हुए तन्तुओ से अपने आपको आच्छादित कर लेता है, जो प्रकृति मे विद्यमान है, और जो स्वभाव से एक, अखण्ड ईश्वर है, वह हमे ब्रह्म मे लीनता प्रदान करे, वह हमे स्वरूप मे स्थिति देवे।

यहा देव उपमेय, तन्तुनाभ उपमान, इव वाचक शब्द आवृणोत् साधारण धर्म होने से पूर्णोपमालकार है।

१.४.३ लुप्तोपमा

उपमा के चार तत्त्व है—(१) उपमेय (२) उपमान (३) साधारण धर्म और (४) वाचक शब्द। इनमे से उपमान, धर्म आदि का उल्लेख न होने से लुप्तोपमा होती है। लुप्तोपमा पूर्णोपमा मे विपरीत है। पूर्णोपमा मे उपमा के चारो तत्त्वो का उल्लेख रहता है, परन्तु लुप्तोपमा मे इनमे से किसी एक का, दो का या तीन का लोप कर दिया जाता है। इस प्रकार धर्म का लोप करने पर धर्मलुप्ता, वाचक का लोप करने पर वाचकलुप्ता, इन दोनो का लोप करने पर द्विलुप्ता आदि लुप्तोपमा के भेद होते हैं। मम्मट तथा विश्वनाथ एव अन्य परवर्ती आचार्यों ने लुप्तोपमा के अनेक प्रकारो का विवेचन किया है। विश्वनाथ ने लुप्तोपमा के २१ भेद बताए है। लुप्तोपमा के भेदप्रभेदो का आधार व्याकरण है। यह परम्परा आचार्य उद्भट के समय से प्रारम्भ हुई। अप्पयदीक्षित ने व्याकरण शास्त्र के आधार पर उपमा के विभाजन का सकेत देते हुए इसे उचित नही माना—

> एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्य-समास-प्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पादनामर्हति। न वा लुप्तानामस्य सामस्त्येन विभाग।
>
> —चित्रमीमासा, पृ० १०८

लुप्तोपमा का विवेचन करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

> लुप्ता सामान्यधर्मादिरेकस्य यदि वा द्वयोः।
> त्रयाणा वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत्॥
>
> —सा० द० १० १७

उपनिपदो मे पूर्णोपमा के समान लुप्तोपमा के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—

धर्मलुप्ता—

> अंगुष्ठमात्र' पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
> ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्॥
>
> —कठ० ४. १२

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठ० ४ १३

इन दोनों मन्त्रों में साधारण धर्मों का उल्लेख न होने के कारण धर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोका यन्ति पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥
—श्वे० २ ५

इस मन्त्र में वि श्लोका उपमेय, सूरेः पथ्या उपमान तथा इव वाचक शब्द तो है पर साधारण धर्म का उल्लेख न होने से यह भी धर्म लुप्तोपमा का ही उदाहरण है।

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥
—श्वे० ५ ८

—परमात्मा से भिन्न दूसरा जो आत्मा है वह अंगुष्ठमात्र आकार वाला है सूर्य सदृश रूपवान है, सङ्कल्प और अहङ्कार संयुक्त है। बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से ही वह सूई की नोक बराबर अत्यन्त सूक्ष्म देखा गया है।

इस मन्त्र में अंगुष्ठमात्र में आकार का तथा आराग्रमात्र में सूक्ष्मता आदि धर्मों का उल्लेख न होने से धर्मलुप्तोपमा है।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥
—श्वे० ६ १९

यहाँ आत्मा उपमेय, अनल उपमान तथा इव वाचक पद हैं, किन्तु दग्धेन्धन अनल के धर्म (तेजस्विता, दीप्तत्व आदि) का उल्लेख नहीं है। अतः यहाँ भी धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट ही है।

वाचकलुप्ता—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ता पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति। असौ वा आदित्यः पिंगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहित ॥

—छा० ८ ६ १

यहा आदित्य, उपमेय, हृदयस्य नाड्य, उपमान तथा शुक्लत्व, नीलत्वादि धर्मों का उल्लेख किया गया है, पर वाचक पद का नही। अत इस मन्त्र मे वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है।

धर्मवाचकलुप्ता—

ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

—कठ० ३ १

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति मे दो तत्त्वों, आत्मा और परमात्मा को छाया और आतप के समान कहा गया है, किन्तु इस साम्य में न वाचक पद का प्रयोग किया गया है, न ही किसी साधारण धर्म का। उपर्युक्त साम्य के द्वारा कवि ने आत्मा और परमात्मा की स्वस्वरूपात्मक स्थिति को छाया एवं प्रकाश के मिलाप के समान कहकर यह भी व्यंजित कर दिया है कि जैसे प्रकाश मे छाया का अभाव हो जाता है, वैसे परमात्मज्ञान से युक्त होने पर आत्मा का अभाव नही होता।

(क) यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषो मृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वयस्योत्पाटिका बहि ॥

—बृ० ३. ९ २८/१

(ख) त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पट.।
तस्मात् तदा तृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥

—बृ० ३ ९ २८/२

(ग) मासान्यस्य शकराणि कीनाट स्नाव तत् स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥

—बृ० ३. ९.२८/३

—सत्य है कि जैसे वन का विशाल वृक्ष है, ऐसा ही मनुष्य शरीर है। इसके तन के रोम पत्ते के समान हैं, इसकी त्वचा बाहर के छिलके की तरह है। इसकी त्वचा से ही रक्त बहता है जैसे कि वृक्ष की त्वचा से उत्पट-रस निकलता है। हनन किए वृक्ष की भांति ही इस हनन किए हुए मनुष्य से वह रस-रक्त निकलता है। इस मनुष्य के मांस अर्थात् मांसपेशियां, वृक्ष की त्वचा के भीतर के भाग हैं, पुरुष का वह स्थिर जो नाडी-जाल है वह वृक्ष का कीनाट है लकड़ी से लगा हुआ कोमल भाग है। इसकी हड्डियां ही अन्दर की लकड़ियां हैं, इसकी मज्जा मज्जा के समान है।

प्रथम मन्त्र की प्रथम पंक्ति में विशालता आदि धर्म के अभाव में धर्मलुप्तोपमा अलंकार है। तथा, द्वितीय पंक्ति में उपमेय लोम एवं उपमान पर्ण, तथा उपमेय त्वक्, और उपमान उत्पाटिका का उल्लेख तो है, किन्तु इनके साधारण धर्मों का उल्लेख न होने से, यह भाग भी धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार के अन्तर्गत है।

यही स्थिति दूसरे मन्त्र की भी है।

तृतीय मन्त्र में भी मांसानि उपमेय तथा शकराणि (छाल का भीतरी अंश) उपमान तो हैं, पर साधारण धर्म का निर्देश न होने से धर्मलुप्तोपमा ही है।

१४.४ मालोपमा

उपमानों की माला मालोपमा है। जब एक उपमेय के अनेक उपमान हों, तब मालोपमा अलङ्कार होता है। उपमेय के लिए एक ही उपमान प्रयोग में लाया जाता है। परन्तु, मालोपमा में कवि उपमेय की शोभा के लिए अनेक उपमानों का प्रयोग करता है। इस प्रकार मालोपमा में उपमानों की एक लड़ी बन जाती है। मालोपमा उपमा की ही एक विचित्रता है।

विश्वनाथ ने मालोपमा का लक्षण दिया है—

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।

—सा० द० १० २६

कतिपय उदाहरण देखिए—

तस्यैष आदेशो। यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३ इतीन्न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम्॥

—केन० ४.४

यहा पर विद्युतो व्ययुतद् आ ३ (जो विजली के समान चमकता है), न्यमीमिषद् आ३ (पलक मारने के समान है), वाक्यांशों मे एकाधिक उपमान होने के कारण मालोपमा अलङ्कार है। इस मन्त्र मे आ पद उपमावाचक है।

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥
—कठ० ६ ५

इस मन्त्र मे उपमेय आत्मा के आदर्श, स्वप्न, पितृलोक, अप् आदि अनेक उपमान होने से यहा मालोपमा अलङ्कार है।

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय सम्भवन्ति।
यथा सत पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
—मु० १ १ ७

—जैसे मकडी मे जाले की सामग्री सूक्ष्म रूप मे होती है, उससे वह जाला रचती है और फिर उसे निगल भी लेती है, इसी प्रकार पुरुष मे प्रकृति कल्पनातीत प्रकार से रहती है। उसी से भगवान् सृष्टि का सजन तथा सहार करता है। जैसे भूमि मे वनस्पतिया अकुरित हो जाती हैं, ऐसे ही भगवान् की विद्यमानता मे लोक-लोकान्तर का विकास हो जाता है। जैसे जीवित मनुष्य की देह मे केश तथा लोम निकलते हैं, इसी प्रकार अविनाशी प्रभु से इस ब्रह्माण्ड का उदय होता है। हरि की इच्छा प्रकृति मे प्रवेश करके उसमे क्रिया उत्पन्न करती है। उसी आदि के सकल्प से सचालित प्रकृति नाना रूप रग आकार-प्रकार आदि को जन्म दे रही है। वास्तव मे, इसमे भगवान् की इच्छा बीज बनी हुई है।

यहा पर विषय को स्पष्ट करने के लिए एक ही उपमेय वाक्य अक्षरात् विश्व सम्भवति के ऊर्णनाभि, ओषधय तथा केशलोमानि, इन तीन उपमानो की योजना की गई है, अत यहा मालोपमा अलकार है।

अह वृक्षस्य रेरिवा कीर्ति पृष्ठ गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतम् अस्मि। द्रविणꣳसवर्चसम् ॥
—तै० १ १०

इस मन्त्र में उपमेयभूत आत्मा के लिए गिरे. पृष्ठम् तथा वाजिनी इन दो उपमानों की योजना की गई है, अतः यहां मालोपमा अलङ्कार है।

तद्यथा लवणेन सुवर्णं सदध्यात्। सुवर्णेन रजत रजतेन त्रपु त्रपुणा सीस सीसेन लोह लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳसदधाति। भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥

—छा० ४ १७ ७-८

इन मन्त्रों में उपमेय यज्ञ के सुवर्ण, रजत, त्रपु, सीस, लोह, दारु, चर्म आदि अनेक व्यञ्जक उपमान दिए गए हैं।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजन वासो यथा पाण्ड्वाविक यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीक यथा सकृद्विद्युत्तम्। यथा सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एव वेद ॥　　—बृ० २ ३ ६

—जैसे कुसुम्भे से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे श्वेतमेष के लोम हों, जैसे इन्द्रगोप का रंग हो, जैसे अग्निज्वाला हो, जैसे श्वेतकमल हो और जैसे एकदम विद्युत् प्रकाश हो, जो व्यक्ति आत्मा के परिचायक चमत्कारों को ऐसे जानता है उसकी लक्ष्मी व शोभा प्रबलता से एक बार चमकती हुई विद्युत् ज्योतिवत् हो हो जाती है।

इस मन्त्र में पुरुषस्य रूपम् में रूपम् पद उपमेय है तथा उसके माहारजनम्, पाण्ड्वाविकम्, इन्द्रगोप, अग्न्यर्चि, पुण्डरीकम् और सकृद्विद्युत्तम् अनेक उपमान हैं।

यहां द्रष्टव्य है कि ब्रह्म के रूप की चमत्कारिता दर्शाने के लिए कवि ने बहुरंगी उपमानों की योजना की है। ये सभी उपमान कवि के जीवनपरिवेश से निकटरूप में सम्बद्ध हैं और वैचित्र्यपूर्ण भी।

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति। तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यते। एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥

—बृ० ४ ३ ३६

—यह शरीरी जिस अवस्था में बुढ़ापे से कृशता को प्राप्त होता है अथवा उपतप—ज्वरादि रोग—से दुर्बलता को प्राप्त होता है उस समय वह, जैसे पका हुआ आम वा गूलर अथवा पीपल डंठल से गिरता है, ऐसे ही यह आत्मा इन शरीरावयवों से छूटकर फिर यथानियम जीवन के लिए ही जन्मान्तर को दौड़ता है, आयुसमाप्ति पर कर्मानुसार पुनर्जन्म धारण करता है।

इस मन्त्र में भी उपमेयभूत शरीरावयवों से छूटने वाले आत्मा के लिए आम्र, उदुम्बर तथा पिप्पल, ये तीन उपमान दिए गए हैं, अतः यहां मालोपमा अलंकार है। ये उपमान सार्थक होने के साथ व्यंजक एवं आश्रम जीवन से निकट सम्बन्ध रखने वाले हैं।

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिराप स्रोतःस्वरणीषु चाग्नि।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

—श्वे० १ १५

—जैसे तिलों में तेल है, दही में घृत है, स्रोतों में जल है और अरणियों में अग्नि है, ऐसे ही यह परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है, और उस व्यक्ति द्वारा जाना जाता है जो इसको सत्य से—आस्तिक्य बुद्धि से—और ब्रह्मचर्यादि तप से देखता है।

इस मन्त्र में परमात्मा में आत्मा के स्वरूप को बताने के लिए सर्पि, आप, अग्नि आदि अनेक उपमान दिए गए हैं।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः॥

—श्वे० ५ ८

इस मन्त्र में उपमेय जीव के लिए तीन उपमान—अंगुष्ठ, रवि, आराग्र (सूई की नोक)—दिए गए हैं। इन तीनों में साधारण धर्म का निर्देश न होने से यह धर्मलुप्ता मालोपमा का सुन्दर उदाहरण है।[1]

---

1. अन्यत्र द्रष्टव्य :—छा० ३. १४. ३, ३ १५. ३, बृ० १. ३.२२, ३.१. १६, ३. ३. २, ६. ४ २२

१ ४ ५ वाक्यार्थोपमा

वाक्यार्थोपमा का उल्लेख दण्डी ने ही किया है। परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार नही किया। उन्होंने इसे दृष्टान्त तथा इससे मिलते-जुलते अलकारो मे समाविष्ट किया है। उपनिषदो मे ऐसे उदाहरण उपलब्ध है जिन पर दण्डी की वाक्यार्थोपमा का लक्षण चरितार्थ होता है। अत इसी दृष्टि से यहा उनका विवेचन किया जाता है। दण्डी की वाक्यार्थोपमा लक्षण है—

> वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थ कोऽपि यद्युपमीयते ।
> एकानेकेव शब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा ॥
>
> —काव्यादर्श २ ४३

कुछ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> यथोदक दुर्गे वृष्ट पर्वतेषु विधावति ।
> एव धर्मान् पृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति ॥
>
> —कठ० ४ १४

जहा वाक्यगत उपमा हो वहा वाक्यार्थोपमा होती है। इस मन्त्र म यथोदक ·· विधावति उपमान वाक्य है और एव धर्मान् ··· ··· अनुविधावति उपमेय वाक्य, अत यहा वाक्यार्थोपमा अलकार है।

इसी प्रकार,

> यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्त तादृगेव भवति ।
> एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥
>
> —कठ० ४ १५

यहा प्रथम पक्ति उपमान वाक्य तथा द्वितीय पक्ति उपमेय-वाक्य होने मे वाक्यार्थोपमा है। इसी प्रकार,

> अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपरूप प्रतिरूपो बभूव ।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपरूप प्रतिरूपो बहिश्च ॥
>
> —कठ० ५ ९

इस मन्त्र मे एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा वाला वाक्य उपमेय है तथा अग्निर्यथैको वाला वाक्य उपमान, अत यहा वाक्यार्थोपमा है। यहा

दृष्टान्त अलंकार नही हो सकता क्योकि विम्बप्रतिविम्बभाव नही बनता, किंच स्पष्ट शब्दो से कर्म कहा गया है।

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्ष संप्रतिष्ठन्ते ।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥

—प्रश्न० ४ ।

ऋषि आलकारिक भाषा मे कहता है, कि जैसे पक्षी इधर उधर उड-फिर कर साय समय बसने के लिए वृक्ष का आश्रय लेते है और उस पर चुपचाप बैठ जाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे सब स्वप्न के खेल, सुषुप्ति मे साक्षी आत्मा मे लीन हो जाते है। देखने, सुनने आदि की वृत्तिया सिकुड कर साक्षी आत्मा मे स्थिरता लाभ करती है। साक्षी उस समय अपने स्वरूप मे स्थित होता है।

इस मन्त्र का पूर्व भाग उपमान वाक्य है और उत्तर भाग उपमेय वाक्य, अत यहा भी वाक्यार्थोपमा अलकार है।

··· ··· यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते। एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।

—प्रश्न० ५.५

इस मन्त्र मे यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते उपमान वाक्य तथा एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त. उपमेय वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलकार है।

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति। स एषोऽश्माखणः॥

—छा० १.२.८

—जिस प्रकार (मिट्टी का ढेला) दुर्भेद्य शिला को लगकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति नाश को प्राप्त हो जाता है जो प्राणोपासना करने वाले पुरुष के प्रति पापाचरण की कामना करता है अथवा जो इसको कोसता या मारता है, क्योंकि यह प्राणोपासक अभेद्य शिला ही है।

इस मन्त्र का पूर्वभाग उपमान वाक्य तथा उत्तरभाग उपमेय वाक्य होने से यहा वाक्यार्थोपमा अलकार है।

इदमिति ॥ प्रतिजज्ञे । सोऽहं भगवः वक्ता ते व्याचक्षन् इति ह तु ते वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यत इति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच ॥

—छा० ४ १४ ३

यहा एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते उपमेय वाक्य है और यथा पुष्करपलाश आपो श्लिष्यन्ते उपमान वाक्य है।

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामु च । एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च । अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते० ॥

—छा० ८ ६ २

यहा भी पहला वाक्य उपमान तथा दूसरा वाक्य उपमेय होने से वाक्यार्थोपमालंकार है।

स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥

—बृ० २ १ १८

—जैसे कोई महाराजा अपने देश के मनुष्यों को साथ लेकर अपने देश में यथेच्छ फिरता है ऐसे ही यह आत्मा इन इन्द्रियशक्तियों को लेकर अपने शरीर में यथेच्छ भ्रमण करता है। स्वप्नावस्था में आत्मा अपने में ही लीला करता है।

इस मन्त्र में एतत् प्राणान् गृहीत्वा ·· ·· · · यह पूरा वाक्य उपमेय तथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा ··· उपमान वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति० ।

—बृ० २.१ २०

यहा यथोर्ण ··· ··· विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति उपमान वाक्य तथा शेष उपमेय वाक्य है, अतः वाक्यार्थोपमालंकार है।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥

—बृ० ४. ३ १८

—जिस प्रकार महामत्स्य नदी के पूर्व और ऊपर दोनो तीरों पर क्रमश संचार करता है, उसी प्रकार यह आत्मा स्वप्नावस्था और जागरित अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं को क्रमश प्राप्त करता है।

इस मन्त्र मे अय पुरुष ''' यह सम्पूर्ण वाक्य उपमेय है तथा महामत्स्य ''' ''' उपमान वाक्य है, अत यहा वाक्यार्थोपमा अलकार है।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥

—बृ० ४.४.३

यहा आत्मेव शरीरं ''' ''' उपमेय वाक्य और तृणजलायुका''' '' उपमान वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलकार है।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिंगनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥

—श्वे० १.१३

—जिस प्रकार काष्ठादि उत्पत्ति-स्थानगत अग्नि की आकृति नहीं दीखती और न ही उसके लिंग (सूक्ष्म स्वरूप) अर्थात् उसका ऊष्मा चिह्न नष्ट होता है। वह अग्नि चाहो तो फिर भी इंधन रूप कारण से ग्रहण की जा सकती है, उसी प्रकार अग्निलिंग के समान इस देह मे प्रणव द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है।

इस मन्त्र मे वह्नेर्यथा ''' उपमान वाक्य है, तथा तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ''' ''' उपमेय वाक्य है। यहा वा शब्द (तद्वा उभयम्) इव (सादृश्य) अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1]

१.४.६. उपमेयोपमा

उपमा मे उपमेय की उपमान के साथ तुलना की जाती है। प्राय हम देखते है कि उपमान के साथ उपमा होती है, परन्तु उपमेयोपमा मे उपमेय के साथ उपमा होती है। अत उपमेयोपमा वह अलङ्कार है जहा दो वस्तुए वारी वारी से परस्पर उपमान और उपमेय रूप मे कल्पित दिखाई दिया करती है। उपमेयोपमा का उद्देश्य

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य .—कठ० ४ १०—११, बृ० १.४ ३, १.४.१०, १.४.१६, २.१.१९, २.५.१५, ४.३.२१, ४.४.४

तृतीय सादृश्यव्यवच्छेद है । अत एव जहा उपमेय के द्वारा उपमा होने पर भी अन्य (तृतीय सादृश्य) उपमान का तिरस्कारक अभीष्ट नही होता, वहा उपमेयोपमा भी नही हुआ करती । इस प्रकार उपमेय के साथ उपमा होने के कारण इस अलङ्कार का उपमेयोपमा नाम अन्वर्थक है । विश्वनाथ ने उपमेयापमा का लक्षण दिया है—

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता । —सा० द० १० २७

यथा—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकार । अधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥

—मा० ८

इस मन्त्र के पादा मात्रा मात्राश्च पादा भाग मे उपमेयोपमा अलकार है ।

अथ खलु य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्गीथ इति । असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव । ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥

—छा० १ ५ १

इस मन्त्र के पूर्वभाग मे उद्गीथ उपमेय और प्रणव उपमान है । उत्तरभाग मे प्रणव उपमेय हो गया है तथा उद्गोथ उपमान । अत यहा उपमेयोपमालकार है ।

स होवाच विजानाम्यह यत्प्राणो ब्रह्म । क च तु ख च न विजानामीति । ते होचु । यद्वाव क तदेव खम् । यदेव ख तदेव कमिति । प्राण च हास्मै तदाकाश चोचु ॥

—छा० ४ १० ५

इस मन्त्र मे जो पूर्वपदस्थ कम् उपमेय तथा खम् उपमान है, वे उत्तरपद मे क्रमश उपमान और उपमेय हो गए हैं । अत यहा भी उपमेयोपमा अलकार ही है ।

९ ४ ७ रूपक

उपमा के समान रूपक भी प्राचीन अलकार है । भरत ने जिन चार अलकारो का उल्लेख किया है उनमे एक रूपक भी है । भरत के बाद भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने इस अलकार का विवेचन किया है । दण्डी ने रूपक की सीमा का बहुत विस्तार किया है और अपह्नुति, आक्षेप, व्यतिरेक को इसमे

सम्मिलित किया है। इस अलंकार को रूपक इसलिए कहते हैं क्योंकि यहां उपमान उपमेय को अपना रूपवान् बनाता है। जैसे, नायिका का मुख चन्द्र के सदृश नहीं, अपितु चन्द्र है। इस प्रकार उपमेय और उपमान में भेद के तिरोहित हो जाने पर उपमा ही रूपक बन जाती है। यदि उपमेय और उपमान में साम्य होने पर उपमा है, तो दोनों में अतिसाम्य होने पर रूपक हो जाता है। इस प्रकार अधिक सादृश्य की दृष्टि से उपमेय और उपमान का अभेदारोप रूपक अलंकार है। अतएव रूपक की व्युत्पत्ति है—

रूपयत्येकता नयतीति रूपकम्।

विश्वनाथ ने रूपक का लक्षण दिया है—

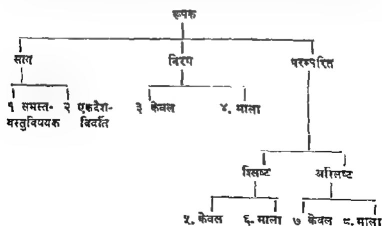
रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।

—सा० द० १० २८

रूपक वह अलंकार है जहां उपमेय का निषेध किए बिना ही उपमेय पर उपमान का अभेदारोप किया जाए।

मम्मट तथा विश्वनाथ, दोनों ने रूपक के आठ भेद किए हैं—

उपनिषदों में रूपक के प्रायः इन सभी भेदों, साग—(१) समस्त-वस्तुविषयक, (२) एकदेशविवर्ति, निरग—(१) केवल, (२) माला, परम्परित—(१) श्लिष्ट, (२) अश्लिष्ट, के उदाहरण मिल जाते हैं।



सागरूपक—

> अंगिनो यदि सांगस्य रूपणं सांगमेव तत् ।
> समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ॥
>
> —सा० द० १० ३०

कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। यथा—

समस्तवस्तुविषयक रूपक—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
>
> —कठ० ३. ३
>
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
> आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
>
> —कठ० ३ ४

उपर्युक्त मन्त्रों में आत्मा पर रथ के स्वामी का, शरीर पर रथ का, बुद्धि पर सारथि का, मन पर लगाम का, इन्द्रियों पर घोड़ों का तथा विषयों पर मार्ग का आरोप होने से सागरूपक अलंकार है।

> अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
> वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
>
> —मु० २ १ ४

इस मन्त्र में द्युलोक पर विराट् पुरुष के सिर का, चन्द्र व सूर्य पर नेत्रों का, दिशाओं पर श्रोत्र का, वेदों पर वाणी का, वायु पर प्राण का, विश्व पर हृदय का, भूमि पर पैरों का आरोप होने से सागरूपक अलंकार है।

> सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
> सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥
>
> —मु० २ १ ८

यहां प्राणों पर अग्नि का, प्रकाश पर ज्वालाओं का, विषयों पर समित् का और भोग पर होम का आरोप होने से सागरूपक है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

—मु० २ २ ३

यहां पर उपनिषद् द्वारा वर्णित ब्रह्मविद्या पर धनुष का, उपासना पर शरसन्धान का, परमात्मा में लीन मन पर ज्या आकर्षण का तथा अविनाशी ब्रह्म पर लक्ष्य का आरोप है, अतः यहां भी साग रूपक अलंकार है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः । —मा० ३

यहां ब्रह्मपुरुष पर विभिन्न शरीरांगों का आरोप होने से साग-रूपकालंकार है।

जैसे देहधारी आत्मा की जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं होती हैं और उन अवस्थाओं में आत्मा स्थूल में, तथा स्थूल सूक्ष्म में और सूक्ष्मशरीर में काम करता है, उसकी चेतना का इनमें प्रकाश होता है, माण्डूक्य महात्मा ने वैसा ही अलंकार ब्रह्म में बांधा है।

—जिसका स्थान जागरित है, जिसकी अवस्था जागने की है, जो बाहर चेतना वाला है, सात अंगों वाला है, जो उन्नीस मुखों वाला और स्थूल का भोक्ता है, वह वैश्वानर पहला पाद है।

जागरित अवस्था में व्यष्टि आत्मा की चेतना जैसे बाहर के विषयों में काम करती है ऐसे ही समष्टि आत्मा का ज्ञान सृष्टि काल में सृष्टि में होता है। समष्टि के सात अंग हैं। द्युलोक उसका मूर्धा है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, अन्तरिक्ष उदर है, दिशाएं भुजाएं हैं, मध्यलोक वक्ष स्थल है, पृथिवी पांव है और लोकातीत आकाश उसका विस्तार है। ब्रह्माण्ड के आत्मा के उन्नीस मुख ये हैं—पांच तन्मात्राएं, दश दिशाएं, तीन काल और मूल प्रकृति। उक्त उन्नीस मुखों से वह जगत् की रचना और जगत् का संहार करता है। वह स्थूल जगत् का भोक्ता, पालक तथा सब नरों का आश्रय नारायण है।

······तस्येदमेव शिर । अयं दक्षिण पक्ष । अयमुत्तरः पक्ष । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ॥
—तै० २.१

इत्यादि की भाँति तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली के पहले पाँच अनुवाकों में अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमयकोश पर मानव तथा उसके शरीर के विभिन्न अंगों का आरोप किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों के प्रायः सभी खण्डों में सांगरूपक की योजना के द्वारा साम-उपासना के विभिन्न अंगों को स्पष्ट किया गया है। यथा—

वृष्टौ पंचविधं सामोपासीत। पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावः। वर्षति स उद्गीथः। विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः। उद्गृह्णाति तन्निधनम् ॥ वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पंचविधं सामोपास्ते ॥
—छा० २ ३ १-२

इन मन्त्रों में वर्षा से पूर्व प्रवाहित होने वाली पवन पर हिंकार का, मेघ पर प्रस्ताव का, वर्षा पर उद्गीथ का, बिजली की चमक और गरज पर प्रतिहार का तथा वर्षा-अवसान पर निधन का आरोप किया गया है अतः यहाँ सांगरूपक अलंकार है।

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत। ऋग्वेद एव पुष्पम्। ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ एतमृग्वेद-मभ्यतपन्। तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत। तद्व्यक्षरत्। तदादित्यमभितोऽश्रयत्। तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितं रूपम् ॥
—छा० ३ १ १-४

इस खण्ड के सभी मन्त्रों में आदित्योपासना का वर्णन करते हुए ऋषि ने इसमें विविध रूपों पर मधुमक्खियों से सम्बद्ध विविध तत्त्वों एवं चेष्टाओं का आरोप किया है। यथा, सूर्य पर मधु का, आदित्य-तीर पर तिरछे बाँस (मधु-छत्ते के स्थान) का, अन्तरिक्ष पर मधुकोश का, किरणों पर मधुमक्खियों के बच्चों का, पूर्वदिशा की किरणों पर पूर्वदिशा की मधुनाड़ियों का, ऋचाओं पर मधुमक्खियों का, ऋग्वेद पर पुष्प का तथा वेद के स्तोत्र पर अमृत आदि का आरोप किया गया है।

इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्नि। इमावेव वसिष्ठकश्यपौ। अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यप। वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति। सर्वस्यात्ता भवति। सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥

—बृ० २ २ ४

इस मन्त्र मे उपासक के कानो पर गौतम तथा भरद्वाज का, नेत्रो पर विश्वामित्र और जमदग्नि का, नासिका पुटो पर वसिष्ठ और कश्यप का तथा वाणी पर अत्रि का आरोप होने से सागरूपक अलकार है। यहा पर उपासक की इन्द्रियो पर सप्तर्षियो का आरोप करके उपासना की महत्ता अभिव्यक्त की गई है।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः, एक शिर, एकमेतदक्षरम्। भुव इति बाहू, द्वौ बाहू, द्वे एते अक्षरे। स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे। तस्योपनिषदहरिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥

—बृ० ५ ५. ३

इस मन्त्र मे भू पर परमपुरुष के सिर का, भुव पर भुजाओ का तथा स्व. पर पैरो का आरोप किया गया है, अत यहा सागरूपक अलकार है।

वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वार स्तनाः। स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकार. स्वधाकार। तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च। हन्तकारं मनुष्या। स्वधाकारं पितरः। तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्स ॥

—बृ० ५ ८. १

इस मन्त्र मे वाणी पर धेनु का, स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार एव स्वधाकार पर स्तनो का, प्राण पर ऋषभ का तथा मन पर वत्स का आरोप किया गया है, अत सागरूपक अलकार है।

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम। तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजानं जुह्वति, तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥

—बृ० ६ २ १०

इस मन्त्र में पर्जन्य पर अग्नि का, संवत्सर पर समित् का, धूम पर अभ्र का, ज्वाला पर विद्युत् का, अंगारों पर वज्र का तथा स्फुलिंगों पर मेघ गर्जन का आरोप किया गया है।

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत । आदित्यं तृतीयम्, वायुं तृतीयम्, स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे, द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः । स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितः । यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥

—बृ० १ २ ३

इस प्रसंग में पूर्वदिशा पर सिर का, ईशान और आग्नेय कोण पर भुजाओं का, पश्चिमी दिशा पर पूंछ का, नाभि पर अधोभाग का, वायव्य और नैर्ऋत्य कोण पर दो हड्डियों का, दक्षिण और उत्तर दिशाओं पर दो पार्श्वों का, द्युलोक पर पीठ, अन्तरिक्ष पर उदर तथा पृथ्वी पर वक्ष स्थल का आरोप होने से सांगरूपक है।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥
—श्वे० १ ४

—ब्रह्मवादियों ने उस ब्रह्मचक्र को देखा है जिसकी एक नेमि, एक प्रकृति ही परिधि—रथ का घेरा है, जो तीन गुणों के वृत्त वाला है, तीन गुण ही उसकी तीन पट्टियां हैं। सोलह इसके अन्त हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल पृथिवी इन्द्रिय, मन अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम, उस चक्र के पचास अरे हैं और बीस छोटे अरों से जुड़ा हुआ है। छः अष्टकों से अखिल बन्धन है। त्रिमार्ग भेद वाला है और दो निमित्त, एक मोह वाला है।

पांच सूक्ष्म भूत और पांच स्थूलभूत, आत्मसंशय, परमात्मसंशय, प्रकृतिसंशय, धर्मसंशय और अधर्मसंशय—ये पांच संशय, पांच क्लेश, काम क्रोध लोभ, मोह, अहंकार, चार योनियां—स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज जरायुज छः ऋतुएं बारह मास, तीन करण—मन, वचन और काया, ये सब पचास अरे हैं। दस इन्द्रियां, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द—ये बीस प्रत्यरे हैं। पहला प्रकृति-अष्टक है, दूसरा धातु अष्टक है, तीसरा सिद्धि-अष्टक है। तनमद, जनमद, धनमद, रूपमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, कुलमद और

जातिमद—यह चौथा मदाष्टक है। अशुभ सोचना, अशुभ सुनना, अशुभ देखना, अशुभ बोलना, अशुभ करना, अशुभ कराना, अशुभ का अनुमोदन और अशुभ का स्पर्श करना—यह पाचवा अशुभाष्टक है। नित्यधर्म, निमित्तधर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातीयधर्म, आपद्धर्म, और अपवादधर्म, यह छठा धर्माष्टक है। धर्म, अर्थ और काम यह मार्गत्रय है। राग, द्वेष ये दो निमित्त है। ममता, अहन्ता ही एक मोह है।

उपर्युक्त मन्त्र मे ब्रह्म पर रथचक्र का अगो सहित आरोप होने से सागरूपक अलकार है।

पचस्रोतोम्बु पचयोन्युग्रवक्रा पचप्राणोर्मि पंचबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पंचावर्ता पचदु खौघवेगा पचाशद्भेदा पचपर्वामधीम ॥

—श्वे० १ ५

यहा ज्ञानेन्द्रियो पर जल का, पचमहाभूतों पर तरंगो का, पाच प्राणो पर उर्मियो का, मन पर मूल का, विषयो पर आवर्त का, दु ख-समूह पर वेग का और पचक्लेशो पर पर्वो का आरोप करके ब्रह्म का नदी रूप मे वर्णन किया गया है, अत यहा भी सागरूपक अलकार है।[1]

निरगरूपक—

निरग केवलस्यैव रूपणम् ।

—सा० द० १० ३२

यथा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥

—कठ० १ ७

इस मन्त्र मे ब्राह्मण पर वैश्वानर अग्नि का आरोप होने से निरगरूपक अलकार है।

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० ३. ६, मु० २ २. ४, मा ४, तै० २. २. १, २ ३. १, २. ४. १, २ ५. १, छा० २. २ १, २ ४ १, २. ४. २, २. ५. १, २ ६. १, २. ७. १, २. ११. १, २. १२. १, २. १३ १, २ १४ १, २. १५. १, २ १६ १, २ १७ १, २ १८. १, २. १९. १, २ २०. १, २. २१. १, ३ १५. २, ३. २ १, ३. ३. १, ३. ४. १, ३ ५. १, ३. ५. २, ३. १३. ५, ३. १५ १; बृ० ५. ५. ४, ६ २ ९, ६. २. ११, ६ २. १२; श्वे० १. १४

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥

—प्रश्न० १ ५

यहा आदित्य पर प्राण का तथा रयि पर चन्द्रमा का आरोप होने से निरग रूपकालकार है।

विश्वरूप हरिण जातवेदस परायण ज्योतिरेक तपन्तम् ।
सहस्र-रश्मि शतधा वर्तमान प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य ॥

—प्रश्न० १ ८

यहा पर भी उपमेय सूर्य पर उपमान प्राण का आरोप है।

पुरुष एवेद विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥

—मु० २ १ १०

इस मन्त्र मे अविद्या पर ग्रन्थि का आरोप होने से निरग रूपकालकार है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैत । एवमोकार आत्मैव । सविशत्यात्मनाऽऽत्मान य एव वेद ॥

—मा० १२

यहा ओकार पर आत्मा का आरोप होने से निरग रूपक स्पष्ट है।

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय अमृतो हिरण्मय ॥

—तैत्ति० १ ६. १

यहा हृदय पर आकाश का आरोप किया गया है।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन् । तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुवन् आयतन न प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥

—ऐत० १ २ १

इस मन्त्र मे ससार पर अर्णव (दु खसागर) का आरोप है।

अन्तरिक्षमेवर्क्। वायु साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मा-दृच्यध्यूढ साम गीयते। अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम॥

—छा० १ ६ २

यहा अन्तरिक्ष पर ऋक् का और वायु पर साम का आरोप होने से निरग रूपक अलकार है।

मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्।

—बृ० १ ३ २८

यहा मृत्यु पर तम का तथा अमृत पर ज्योति का आरोप किया गया है।

तद्येव वाक् सोऽयमग्नि.। स होता। स मुक्ति। साऽतिमुक्ति॥

—बृ० ३ १ ३

यहा वाक् (स्तुतिपाठ) पर अग्नि (आध्यात्मिक) का आरोप किया गया है।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिप सर्वभूतेषु गूढ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनत्ति॥

—श्वे० ४ १५

इस मन्त्र मे मृत्युपाशान् का मृत्यु के बन्धनो को ऐसा अर्थ न हो कर मृत्युरूप बन्धनो को ऐसा अर्थ है (तुलनीय शाकर भाष्य)। अत यहा मृत्यु पर पाश का आरोप होने से निरग रूपक अलकार है।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथाऽन्ये परिमुह्यमाना।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

—श्वे० ६ १

यहा ब्रह्म पर चक्र का आरोप होने से रूपकालकार है जो कि निरग है।[1]

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २ २५, ३. २, ३. ६, प्रश्न० १. १२, १. १३, ४. ४, मु० १. २. ७, २ १ ५, ३. १. ८, २ २. ५; मा० ८, तै० १. ३, १. ४, १. ५, १. ८, ऐत० १. २. ४, २. १. ५, ३. १. ३, छा. १४

अश्लिष्टपरम्परितरूपक—

> पचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहु परे अर्धे पुरीषिणम् ।
> अथेमे अन्य उ परे विचक्षण सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥
>
> —प्रश्न० १ ११

इस मन्त्र में कालज्ञ पुरुष की पाच ऋतुओं पर उसके पाच चरणों का, उत्पादक शक्ति पर पितृत्व का, द्वादशमासों पर उसके अवयवों का, सात अश्वों पर सात चक्रों का तथा छ ऋतुओं पर छ अरों का आरोप किया गया है, अत अश्लिष्ट परम्परित रूपक अलकार है।

एकदेशविवर्तिरूपक—

> नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
> वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥
>
> —श्वे० ३ १८

इस मन्त्र मे शरीर पर पुर का आरोप करके इन्द्रियो पर नवद्वार का आरोप तो किया गया है, किन्तु पुर से सम्बद्ध अन्य किसी अग का आरोप न होने से यहा एकदेशविवर्तिरूपक अलकार है।

मालारूपक—

> अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् । तत्साम । तदुक्थम् । तद्यजु । तद्ब्रह्म । तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम् । यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ । यन्नाम तन्नाम ॥
>
> —छा० १ ७ ५

इस मन्त्र मे नेत्रान्तरवर्ति दृश्यमान पुरुष पर ऋक्, साम, उक्थ (सामस्तोत्र) तथा यजु का आरोप होने से मालारूपक अलंकार है।

अतिशयोक्तिमूलरूपक—

> अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्ति पृष्ठं गिरेरिव ।
>
> —तै० १. १०

इस मन्त्र मे ससार तथा वृक्ष मे भेद होने पर भी अभेद मान कर आरोप की योजना की गई है, अत यहा अतिशयोक्तिमूलक रूपक अलकार है।

१४८ परिणाम

परिणाम अलकार भी सादृश्यमूलक है जो रूपक से मिलता-जुलता है। इस अलकार मे उपमेय से उपमान का अभेदारोप इस रूप मे होता है, जिससे वह प्रकृतार्थ मे उपयोगी बन जाता है। क्योकि, इस अलकार मे उपमान उपमेय के साथ सर्वात्मना एकरूप होकर उसके कार्य मे भी उपयुक्त हुआ करता है, अत उपमान का उपमेय के उपयोग मे परिणमन के कारण इसे परिणाम कहते है। रूपक मे तो उपमान उपमेय का उपरजक ही हुआ करता है, किन्तु परिणाम मे वह उपमेय से तादात्म्य स्थापित करके प्रस्तुत उपमेय के अर्थ मे भी उपयोगी बन जाता है। परिणाम का लक्षण है—

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ॥

—सा० द० १० ३४

यथा—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु ।
एष पृथिवी रयिर्देव सदसच्चामृत च यत् ॥

—प्रश्न० २ ५

यहा प्राण पर आरोप्यमाण अग्नि तपनरूप प्रस्तुत कार्य मे उपयोगी दिखाई गई है, अत परिणाम अलकार है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—मु० ३ १ १

इस मन्त्र मे प्रकृति पर वृक्ष तथा जीवात्मा और परमात्मा पर दो सुपर्ण पक्षियो का आरोप किया गया है। यहा आरोप्य पदार्थ आरोपित पदार्थानुकूल कार्य भी करने लग गए हैं, अत परिणाम अलकार है।

प्रकृति महावृक्ष है। इस पर जीवात्मा और परमात्मा दोनो आरुढ है। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है, और सखापन का है। भेद उनमे इतना ही है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलो को भोगता है जिससे वह दुखी हो जाता है, और परमेश्वर केवल साक्षी बना रहता है।

> वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थ पाद.। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥
>
> —छा० ३ १८ ३

> प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पाद। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥
>
> —छा० ३. १८. ४

इन दोनो मन्त्रो में क्रमश वाणी और प्राण पर अग्नि और वायु आरोपित होकर विषय (उपमेय) के स्वरूप—दीप्ति और उष्णता अर्थात् तेजस्विता—से ही कार्य कर रहे है, अत यहा भी परिणाम अलकार है।

> त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य।
> ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥
>
> —श्वे० २ ८

इस मन्त्र मे ब्रह्म पर उडुप—तरने के साधन—का आरोप कर के उससे समुद्ररूप भयावह ससारप्रवाह की तरणक्रिया दिखाने के कारण परिणाम अलकार है।

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
>
> —श्वे० ४ ६ (तुलनीय मु० ३ १ १)

एवम्,

> समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान.।
> जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक ॥
>
> —श्वे० ४. ७

इस मन्त्र मे आरोप्य पदार्थ प्रस्तुत कार्य मे उपयोगी हो रहे है, अत यहा परिणाम अलकार है।[1]

१.४.६ सन्देह

सन्देह अलकार का वीज सशय ज्ञान है। दो पदार्थों के अत्यन्त सदृश होने पर द्रष्टा को अभेदबुद्धिजन्य सशय होता है, जैसे दूर से किसी स्थाणु को देखने पर साम्य के कारण उस पर पुरुष का सन्देह होता है। दूर से देखने पर द्रष्टा को स्थाणु पुरुष लगता है परन्तु वह निर्णय नही कर पाता कि दूरस्थ पदार्थ स्थाणु है या पुरुष है। उसका मन दो कोटियो, उपमेय कोटि स्थाणु तथा उपमान-कोटि पुरुष के मध्य मे झूलता रहता है। मन की यह दोलायमान स्थिति, जहा ज्ञान निश्चित नही है, सशय है। इस प्रकार जहा उपमेय पर उपमान का सशय हो, वहा सन्देह अलकार होता है। सन्देह मे उपमेय की अनेक उपमानो से समता होती है, परन्तु यहा मालोपमा के समान कवि एक उपमेय की अनेक उपमानो मे साक्षात् तुलना नही करता है, अपितु सन्देह के कारण वह एक उपमान के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा उपमान प्रयोग मे लाता है। इस प्रकार कवि का मन एक उपमेय तथा तत्समान अनेक उपमानो मे झूलता रहता है। कविप्रतिभा से अनुप्राणित होने पर सन्देह मे वैचित्र्य आ जाता है और वह लौकिक सन्देह न रह कर अलकार बन जाता है।

सन्देह की व्युत्पत्ति है—सन्देहेन सशयेन सह वर्तते इति सन्देह । इस प्रकार उपमेय का सन्देह होने पर सन्देह अलकार है। जैसे विश्वनाथ ने कहा है—

सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य सशय प्रतिभोत्थित ।

—सा० द० १०. ३५

सन्देह अलकार मे दो बाते ध्यान देने योग्य है (१) सन्देह सदा उपमेय और उपमान के सादृश्य के कारण होना चाहिए। सादृश्य के अभाव मे सन्देह होने पर भी यह अलकार नही होगा। (२) दूसरी बात यह कि सन्देह कवि प्रतिभा से अनुप्राणित होना चाहिए तभी

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य :—छा० ३. १८. ४-६

उस मे वैचित्र्य आता है । सन्देह तीन प्रकार का है—(१) शुद्ध (२) निश्चयगर्भ (३) निश्चयान्त । रुद्रट इसे संशय तथा मम्मट इसे ससन्देह नाम देते हैं ।

उदाहरण रूप मे देखिए—

तद्धैषां विजज्ञौ । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव । तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥

—केन० ३ २

इस मन्त्र मे किमिदं यक्षमिति से यक्ष के रूप मे प्रकट ब्रह्म के विषय मे देवताओं के सन्देह का वर्णन होने से सन्देह अलंकार है ।

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ॥

—बृ० ४ ४ ९

यहां मोक्षमार्ग के विषय में मतभेद है । कोई उसे शुक्ल और कोई नीलवर्ण का, तथा कोई पिंगलवर्ण का, कोई हरित और कोई लोहित वर्ण का कहता है । किन्तु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है । उस मार्ग से पुण्य करने वाला परमात्मतेज स्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है ।

इस प्रकार यहां निश्चयान्त सन्देह अलंकार है ।[1]

१४.१०. भ्रान्तिमान्

सादृश्य के आधार पर प्रकृत अर्थ मे अप्रकृत अर्थ का भ्रम भ्रान्तिमान् अलंकार है । रुय्यक इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—

भ्रान्तिश्चित्तधर्मः । स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान् ।

—अल० सर्व० पृ० ५६

पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

अत्र च भ्रान्तिमात्रमलंकारः । भ्रान्तिमानलंकार इति व्यवहारस्त्वौप-चारिक ।

—रसगंगाधर, पृ० ५९१

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य ।—कठ० १. २०

परन्तु यहा यह ध्यान रहे कि साम्य के कारण एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का भ्रम वास्तविक न होकर कविप्रतिभा से युक्त होना चाहिए। अत एव शुक्तिकायां रजतम् मे भ्रान्ति ही है, अलकार नही। परन्तु मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवा मे चादनी मे मुग्ध-हृदय गोपवृन्द का दुग्ध का भ्रम कविप्रतिभाजन्य होने के कारण भ्रान्तिमान् अलकार है।

विश्वनाथ का लक्षण है—

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थित ।

—सा० द० १० ३६

यथा—

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्—किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ३ ॥

—ऐत० १ ३ १३

इस मन्त्र मे पुरुष को ही ब्रह्म समझ लेने का वर्णन है जो कि कविप्रतिभोत्थित है। अत यहा भ्रान्तिमान् अलकार है।

१ ४ ११ उल्लेख

उल्लेख अलकार मे एक का अनेक प्रकार से उल्लेख होता है। एक ही वस्तु को या तो दर्शक अपने अपने दृष्टिकोण से देखते हैं और वह वस्तु भिन्न भिन्न प्रतीत होती है, अथवा एक ही वस्तु का रूप उसके विषय या आश्रय को बदलने पर भिन्न हो जाता है। कैसे भी हो, एक का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख अलकार है। उल्लेख के इस प्रकार दो भेद हो जाते है। प्रथम म ग्रहीता के भेद से एक का अनेकधा उल्लेख होता है जैसे एक भगवान् कृष्ण का कस, गोप, भक्त आदि ग्रहीताओ के भेद से शत्रु, सखा तथा भगवान् के रूप मे उल्लेख होने पर प्रथम उल्लेख है। द्वितीय मे एक ही वस्तु का विषय या आश्रय के भेद से भिन्न प्रकार से उल्लेख होता है। जैसे भगवती पार्वती की दृष्टि एक ही वस्तु है, परन्तु उसका विषय या आश्रय भगवान् शिव का मुख, उनका चर्माम्बर, उनके सिर पर विराजमान गगा भिन्न भिन्न हैं। अतएव विषयभेद से कवि एक ही दृष्टि का अनेक रूपो मे जैसे मुख को देखकर लजीली, चर्माम्बर को देखकर दीन तथा गगा को देख

कर ईर्ष्याभरी—वर्णन करता है।' इस प्रकार ज्ञाता, दर्शक आदि के भेद से या आश्रय, विषय आदि के भेद से एक का अनेक प्रकार से उल्लेख उल्लेख अलकार होता है। विश्वनाथ ने उल्लेख का लक्षण दिया है—

> क्वचिद भेदाद् ग्रहीतॄणा विषयाणा तथा क्वचित ।
> एकस्यानेकधोल्लेखो य स उल्लेख उच्यते ॥
>
> —सा० द० १० ३७

यथा—

> य सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत परम् ।
> अभय तितीर्षता पार नाचिकेत शकेमहि ॥
>
> —कठ० ३ २

इस मन्त्र मे उपास्य, एक ही परमेश्वर को भव-पार पाने का पुल, अक्षर, परमपद, ससार सागर तरना चाहने वालो का परला पार आदि अनेकविध वर्णित किया गया है। अत विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेकविध वर्णन करने से यहा उल्लेख अलकार है।

> हस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
> नृषद्वरसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋत बृहत् ॥
>
> —कठ० ५ २

इस मन्त्र मे एक आत्मा को ही हस (विवेकी), शुचिषद् (पवित्र अवस्था मे रहने वाला), वसु, वेदिषद्, अतिथि, धीरा और श्रेष्ठो का सगी, सत्यसद, आकाशविहारी, अब्ज, भूमिज, अद्रिज, आदि कहने से, विषयभेद से उल्लेख अलकार है।

> एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु ।
> एष पृथिवी रयिर्देव सदसच्चामृत च यत् ॥
>
> —प्रश्न० २ ५

---

१. सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातगचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनी ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसगमप्रणयिनी दृष्टि शिवायास्तु व ॥
(पी० वी० काणे, साहित्यदर्पण, पृ० १३१, १६२३)

यहा प्राण को अग्नि, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथिवी, रयि आदि अनेक रूपो मे देखा जा रहा है, अत उल्लेखालकार स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार,

इन्द्रस्त्व प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति ॥

—प्रश्न० २. ९

इस मन्त्र मे भी प्राण को इन्द्र, रुद्र, अन्तरिक्षचारी, ज्योतियो का पति आदि अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है, अत यहा भी विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होने के कारण उल्लेखालकार है।

य एव वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयो। कर्मेति हस्तयो। गतिरिति पादयो। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषी समाज्ञा ॥

—तै० ३ १०. २

अथ दैवी। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे ॥

—तै० ३ १० ३

इन दोनो मन्त्रो मे एक ही शक्ति का अनेकविध वर्णन होने से उल्लेखालकार स्पष्ट है।

उद्यन्हिंकार। उदित प्रस्ताव। मध्यन्दिन उद्गीथ। अपराह्ण प्रतिहार। अस्त अन्निधनम्। एतद्बृहदादित्ये प्रोतम्।

—छा० २ १४ १

यहा एक ही सूर्य का विभिन्न स्थितियो मे भिन्न भिन्न प्रकार—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन रूप—से वर्णन के कारण उल्लेख अलकार है।

अभ्राणि सप्लवन्ते स हिंकार। मेघो जायते स प्रस्ताव। वर्षति स उद्गीथ। विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार। उद्गृह्णाति तन्निधनम्। एतद्वैरूप पर्जन्ये प्रोतम् ॥

—छा० २ १५ १

इस मन्त्र मे क्रिया (विषय) भेद से एक ही मेघ का विभिन्न रूप—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन—मे वर्णन से उल्लेखालकार है।

इसी प्रकार देखिए,

··· ·· अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो मनः। तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेद। अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति। ·· ·

—बृ० १.४ ७

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः॥

—श्वे० ४ २

यहा एक ही देव का अनेक प्रकार से उल्लेख होने से उल्लेख अलकार है।

इसी प्रकार,

नील पतंगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥

—श्वे० ४.४

इस मन्त्र मे विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होने से उल्लेख अलंकार है।[1]

१४.१२ उत्प्रेक्षा

उपमा के बाद उत्प्रेक्षा सर्वाधिक कविप्रिय अलकार है। जिस प्रकार उपमा की प्रशस्ति मे अनेक सूक्तिया प्रचलित है, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा के विषय मे भी कहा गया है—

सर्वालकारसर्वस्व कविकीर्त्तिविवर्धिनी।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा स्मितादिव॥

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य :—कठ० ५ ८; प्रश्न० ३. ४, ३. ११, ४. ६

संस्कृत का सम्पूर्ण साहित्य उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य से मण्डित है। बाणभट्ट के काव्य मे तो उत्प्रेक्षा का परमोत्कर्ष है।

उपमा तथा रूपक के समान उत्प्रेक्षा भी सादृश्यमूलक अलकार है। इसमे उपमेय पर उपमान की उत्कट सम्भावना होती है, अत इसे उत्प्रेक्षा कहते हैं। उत+प्र+ईक्षा=उत्प्रेक्षा अर्थात् उत—उत्कट (प्रबल) प्र=प्रकृष्ट (उपमान) की ईक्षा=ईक्षण (सभावना) अर्थात् जहा उपमान की उत्कट रूप मे सम्भावना हो, वहा उत्प्रेक्षा अलकार होता है।

उत्प्रेक्षा अलकार का बीज सभावना है। सम्भावना मे उपमेय और उपमान इन दो पदार्थों में सशय का पुट रहता है। परन्तु सभावना ऐसा सशय है, जिसमे उपमेय तथा उपमान इन दो कोटियो मे से उपमान कोटि ही उत्कट रहती है। जैसे मुख चन्द्र मनो मे दो कोटियो—मुख और चन्द्र—मे सशय होने पर भी उपमान कोटि ही उत्कट है, क्योकि कवि मुख पर चन्द्र का सशय करते हुए भी मुख को मुख की अपेक्षा चन्द्र अधिक समझता है। मुख मानो चन्द्र है, इसका अर्थ है कि कवि ने मुख को लगभग चन्द्र समझ लिया है। इस प्रकार उपमेय और उपमान मे सशय होने हुए भी कवि जब उपमेय को उपमान-सा मान बैठता है तब सम्भावनामूलक उत्प्रेक्षा अलकार होता है। यह सम्भावना ही उत्प्रेक्षा को सन्देह अलकार से भिन्न करती है।

विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा का लक्षण दिया है—

भवेत सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।

—सा० द० १० ४०

तथा उत्प्रेक्षा के १७६ भेद बताए हैं। परन्तु प्रमुख रूप से तो उत्प्रेक्षा के पाच भेद ही प्रचलित हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, वाच्योत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

वाच्योत्प्रेक्षा—

अथाध्यात्मम। 'यदेतद्गच्छतीव च मन। अनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्ण सकल्प॥

—केन० ४. ५

इस मन्त्र मे गच्छतीव मे उत्प्रेक्षावाचक इव के कारण वाच्या नियोत्प्रेक्षा अलकार है।

ध्यान वाव चित्ताद् भूय । ध्यायतीव पृथिवी। ध्यायतीवान्तरिक्षम। ध्यायतीव द्यौ । ध्यायन्तीवाऽऽप । ध्यायन्तीव पर्वता । ध्यायन्तीव देवमनुष्या । तस्माद्य इह मनुष्याणा महत्ता प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाशा इवैव ते भवन्ति । अथ येऽल्पा कलहिन पिशुना उपवादिनस्ते । अथ ये प्रभवो ध्यानापादाशा इवैव ते भवन्ति । ध्यानमुपास्स्वेति ॥

—छा० ७ ६ १

इस मन्त्र से ध्यायति इव पद मे वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा है।

न वधेनास्य हन्यते । नास्य स्राम्येण स्राम । घ्नन्ति त्वेवैनम । विच्छादयन्तीव । अप्रियवेत्तेव भवति । अपि रोदितीव ॥ ••

—छा० ८ १० ४

यहा विच्छादयन्ति इव, अप्रियवेत्ता इव तथा रोदिति इव पदो मे वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा अलकार है। शाकरभाष्य के अनुसार घ्नन्ति त्वेव मे एव पद इवार्थक होने मे इस अश मे भी वाच्योत्प्रेक्षा ही है।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर जिघ्रति, तदितर इतर पश्यति, तदितर इतर शृणोति, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतर मनुते, तदितर इतर विजानाति ॥

—बृ० २ ४. १४

इस मन्त्र मे अद्वैत द्वैत की सभावना के कारण अतिशयोक्तिमूलक गुणोत्प्रेक्षा है।

याज्ञवल्क्येति होवाच ·· मनुष्यलोक ॥

—बृ० ३ १ ८

इस मन्त्र मे दीप्यत इव हि देवलोक अश मे क्रियोत्प्रेक्षा तथा अपत्यय इव हि मनुष्यलोक भाग मे फलोत्प्रेक्षा अलकार है।

कतम आत्मेति—योऽय विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुष । स समान सन्नुभौ लोकावनुसचरति ध्यायतीव लेलायतीव । स हि स्वप्नो भूत्वेम लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥

—बृ० ४ ३ ७

इस मन्त्र मे ध्यायतीव तथा लेलायतीव पदो मे वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा अलकार है।

इसी प्रकार बृहदा० ४ ३ २० मे भी घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययनि तथा गर्तमिव पतति मे वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा है।

स यत्रायमात्माऽबल्य न्येत्य समोहमिव न्येति अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति। स एतास्तेजोमात्रा समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। स यत्रैष चाक्षुष पुरुष पराङ् पर्यावर्तते। अथारूपज्ञो भवति।

—बृ० ४ ४ १

यहा समोहमिव न्येति (मानो समोह को प्राप्त होता है) अश मे जात्युत्प्रेक्षालकार है।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती सम नयतीति समान। मनो ह वाव यजमान। इष्टफलमेवोदान। स एन यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति॥

—प्रश्न० ४ ४

इस मन्त्र मे आहुती पद मे आहुती इव के रूप मे उत्प्रेक्षा होने से प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जित च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति॥

—मु० १.२ ३

इस मन्त्र मे हिनस्ति पद मे हिनस्ति इव के रूप मे उत्प्रेक्षा होने से क्रियागत प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलकार है (तुलनीय शाकरभाष्य)।

एह्येहीति तमाहुतय सुवर्चस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक॥

—मु० १ २ ६

इस मन्त्र मे भी वहति पद मे वहन्ति इव की उत्प्रेक्षा होने से क्रियागत प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलकार है (तुलनीय शाकर भाष्य)।

१.४.१३ अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान अलकार है। अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलकार होता है। विषय अर्थात् उपमेय का निगरण करके विषयी अर्थात् उपमान के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं। अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकारो मे अध्यवसाय पूर्ण नही होता है। उत्प्रेक्षा मे अध्यवसाय साध्य होता है। परन्तु अतिशयोक्ति मे अध्यवसाय उपमेय का तिरोधान होकर उपमान का ही रह जाना, जैसे चन्द्र मे मुख के तिरोधान से केवल चन्द्र का ही रह जाना, सिद्ध अर्थात् पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति मे उपमेय और उपमान के आहार्य ज्ञान से भेद का सर्वथा लोप हो जाता है और केवल उपमान का ही उपादान होता है।

अतिशयोक्ति के नाम से स्पष्ट है कि इस अलकार मे अतिशय असाधारण, लोकातीत, लोकातिक्रान्त कथन होता है। अतिशय उक्ति = अतिशयोक्ति । अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्ति अतिशयोक्तिः । अतिशय का अर्थ है बढी-चढी स्वाभाविक लोकमर्यादा से ऊपर उठी, लोकसीमा मे न बधी उक्ति, अर्थात् कवि का कथन। इस प्रकार अतिशयोक्ति मे कवि उस सृष्टि की रचना करता है, जो विधाता के नियमो से बधी सृष्टि से भिन्न है, जो सर्वथा उसकी अपनी कल्पित सृष्टि है। अतिशयोक्ति मे कवि निरकुश होता है और अपनी कल्पना मे विधाता की सृष्टि के नियमो से बधा नही होता है। अतिशयोक्ति मे साधारण कथनप्रकार से भिन्नता होने के कारण वैचित्र्य आता है और वैचित्र्य के अलकारो का बीज होने के कारण अतिशयोक्ति सब अलकारो की जननी मानी गई है। जैसे दण्डी ने कहा है—

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।

—का० आ० २ २२०

भामह ने अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है, परन्तु उसने इसके भेदो का विवेचन नही किया। उद्भट ने इसके ४ भेद बताए हैं। रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ ने इसके ५ भेद प्रतिपादित किए हैं।

विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति का लक्षण दिया है—

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।
भेदेऽप्यभेद सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ।
पौर्वापर्यात्यय कार्यहेत्वो सा पञ्चधा तत. ।।

—सा० द० १० ४६-४७

कतिपय उदाहरण देखिए—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

—ईश० १५

इस मन्त्र मे उपमानभूत सत्य के द्वारा ब्रह्म का निगरण होने से अतिशयोक्ति अलकार है।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेत प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेत निहित गुहायाम् ॥

—कठ० १.१४

यहा उपमान गुहा ने उपमेय हृदय को निगीर्ण कर लिया है, अत इस मन्त्र म रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

एतच्छ्रुत्वा सपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा विवृत सद्म नचिकेतस मन्ये ॥

—कठ० २.१३

इस मन्त्र के अन्तिम पाद मे उपमान सद्म के द्वारा उपमेय ब्रह्म (रूपीभवन) का निगरण होने से यहा रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतस. ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते एतद्वै तत् ।।

—कठ० ५ १

इस मन्त्र मे पुरम् तथा एकादशद्वारम् उपमानो ने शरीर तथा इन्द्रियां इन उपमेयों का निगरण कर लिया है, अत यहा रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

सर्वज्ञ सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित ॥

—मु० २ २ ७

इस मन्त्र मे व्योम्नि पद द्वारा हृद्-आकाश निगीर्ण होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक ॥

—मु० ३ १ २

यहा उपमानभूत वृक्ष के द्वारा उपमेयभूत प्रकृति निगीर्ण होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् ॥

—मु० ३ १.७

यहा भी गुहा उपमान ने बुद्धि उपमेय को निगीर्ण कर रखा है, अत रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन । तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुवन—आयतन न प्रजानीहि । यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥

—ऐत० १ २.१

इस मन्त्र मे उपमानभूत अर्णव द्वारा उपमेय रूप ससार निगीर्ण है, अत यहा भी रूपकातिशयोक्ति है।

य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत । उद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्यस्तमो भयमपहन्ति । अपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एव वेद ॥

—छा० १ ३.१

यहा तमोरूप उपमान से अविद्यारूप उपमेय निगीर्ण होने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च । तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ।

—बृ० २ ५ १९

यहा हरि (अश्व) रूप उपमान के द्वारा इन्द्रिय रूप उपमेय निगीर्ण है, अत रूपकातिशयोक्ति है।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

इस मन्त्र मे जीव पर हस का आरोप तथा सरोवर पर ब्रह्म चक्र का आरोप है। उपमानभूत हस तथा ब्रह्मचक्र ने उपमेयभूत जीव तथा सरोवर को निगीर्ण कर लिया है, अत यहा रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

इस मन्त्र मे उपमानभूत हस ने उपमेयभूत आत्मा को निगीर्ण कर लिया है, अत रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमीशम् ॥

—श्वे० ३ २०

इस मन्त्र मे उपमेयस्वरूप अन्त करण को उपमान गुहा ने निगीर्ण कर लिया है, अत रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥

—श्वे० ५ ३

इस मन्त्र में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। यहा उपमानभूत जाल (फन्दा) से माया रूप उपमेय निगीर्ण है।

> यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
>
> —श्वे० ६ २०

यहा असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन किया गया है कि जब मानव आकाश को चर्म के समान लपेट लेंगे, तब वे ईश्वर को जाने बिना दुःखों से मुक्त हो जाएंगे। अतः यहा सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।[1]

१.४.१४. दीपक

दीपक उन चार अलंकारों में है, जिनका भरत मुनि ने उल्लेख किया है। *दीपक शब्द की व्युत्पत्ति √दीप्—प्रकाशित करना—धातु से है।* जो प्रकाशित करता है वह दीपक है। दीपक अलंकार को दीपक इस लिए कहा जाता है कि जैसे दीपक घर को प्रकाशित करने के साथ-साथ घर के बाहर भी प्रकाश देता है, उसी प्रकार दीपक अलंकार में भी शब्द एक स्थान पर ही स्थित होकर समस्त वाक्य को दीपित करता है। जैसे एक वस्तु को प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त दीपक अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही दीपक में एक पदार्थ से सम्बद्ध पदार्थ अन्य पदार्थों से भी सम्बद्ध हो जाता है। जैसा, वामन झलकीकर ने दीपक को स्पष्ट करते हुए कहा है—

> प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रसंगादन्यत्र (अप्रस्तुतेऽपि) उपकरोति प्रासादार्थमारोपितो दीपो रथ्यायामिवेति दीपसाम्यमिति भावः।[2]

भरत के बाद भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट आदि सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने दीपक का लक्षण किया है—

> अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
> अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥
>
> —सा० दा० १० ४९

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २.२०, ३.१, ४.६, ४.७, ६.१२

२. मम्मट, काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, १९६५, पृ० ६२६

यहा विश्वनाथ ने दीपक के दो रूपो का निर्देश किया है। (१) जहा अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत का एक धर्म से सम्बन्ध हो वहा दीपक होता है, तथा (२) जहा कारक एक हो और उसका अनेक क्रियाओ मे सम्बन्ध हो वहा भी दीपक होता है। परन्तु जो आचार्य दीपक मे औपम्य की अभिव्यग्यता को आवश्यक मानते हैं, उनकी दृष्टि मे दीपक का दूसरा भेद सम्भव नही है। परन्तु, आलकारिको मे दीपक के दोनो ही रूप प्रचलित हैं।

उपनिषदो मे इस अलकार के उदाहरण निम्न प्रकार से मिलते हैं—

प्राण देवा अनुप्राणन्ति मनुष्या पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायु तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥

—तै० २ ३ १

इस मन्त्र मे अप्रस्तुत देव और प्रस्तुत मनुष्यादि का एक ही धर्म प्राणन क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलकार है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—कठ० २ १८

इस मन्त्र मे विपश्चित इस एक कारक का जायते, म्रियते, बभूव, हन्यते इन अनेक क्रियाओ के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलकार है।

इसी प्रकार,

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोत वेद, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति। सर्वमायुरेति। ज्योग्जीवति। महान् प्रजया पशुभिर्भवति। महान् कीर्त्या। न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत। तद्व्रतम्॥

—छा० २ १२ २

इस मन्त्र मे रथन्तरसाम को अग्नि मे अनुस्यूत जानने वाले पुरुष—कारक—का ब्रह्मतेज से सम्पन्न होना, अन्न का भोक्ता होना, पूर्ण जीवन का उपभोग करना, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करना, प्रजा, पशुओं और कीर्ति के कारण महान् होना, जैसी अनेक क्रियाओ के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है, अत यहा दीपक अलकार है।

यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनि पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्य ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणाश्च सर्वान् विनियोजयेद्य ॥

—श्वे० ५ ५

इस मन्त्र मे एक ही कर्त्ता—परमात्मा—प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध को निष्पन्न करना, परिणामयोग्य पदार्थों को परिणत करना, विश्व-नियमन, सत्वादि समस्त गुणो की कार्यो मे नियुक्ति, ये अनेक क्रियाए कर रहा है, अत यहा दीपक अलकार है।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राण प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

—तै० ३ ३

उपर्युक्त मन्त्र मे भूतानि इस एक कारक का जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इन अनेक क्रियाओ के साथ सम्बन्ध है, अत यहां दीपक अलकार है।[1]

१ ४ १५. तुल्ययोगिता

पदार्थाना प्रस्तुतानामन्येषा वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥

—सा० द० १० ४८

केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत पदार्थो का जब एक धर्म से सम्बन्ध होता है, तब वह तुल्ययोगिता अलकार कहलाता है। यह धर्म कही गुणरूप होता है और कही क्रियारूप । यथा—

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥

—मु० २ १ ९

इस मन्त्र मे अनेक प्रस्तुत पदार्थो—समुद्र, गिरय, सिन्धव, ओषधय एव रस का एक धर्म (क्रिया) स्यन्दन्ते से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलकार है।

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —तै० ३. २-६, छा० २ १३ २. २ १४. २, २ १५ २. २ १६ २, २ १७ २, २ १८ २, २. १९. २, २. २०. २१

जिनमे सादृश्य व्यंग्य होता है। अत ये गम्य औपम्यमूलक अलकार हैं।

दृष्ट अन्तः (प्रकृतस्य वस्तुन उदाहरणदर्शनेन निश्चय) यत्र स दृष्टान्त। जो बात कही जा रही है उसे धर्मसहित उदाहरण द्वारा पुष्ट कर देना दृष्टान्त है। जो बात हम कहते हैं, उसे दृष्टान्त द्वारा हम पुष्ट करते हैं, जिससे सन्देह न रहे और हमारे कथन का निश्चय हो। दृष्टान्त से कथन का निश्चय हो जाता है। अत दृष्टान्त मे निश्चय के कारण इसे दृष्टान्त कहते है। दार्ष्टान्तिके संदिग्धस्यार्थस्यात निश्चयदर्शनादय दृष्टान्त। जैसे कवि कहता है—'नायक को देखते ही नायिका का कामदेव से सतप्त मन शान्त हो जाता है।' फिर वह अपने कथन की पुष्टि मे उदाहरण देता है—'चन्द्रमा को देखने पर कुमुदिनी का पुष्प खिल उठता है।' इस प्रकार कथन का दूसरे कथन से निश्चय हो जाने के कारण दृष्टान्त अलकार है। यद्यपि दृष्टान्त मे निश्चय का भाव होता है, परन्तु दोनों कथनो मे विम्वप्रतिविम्वभाव भी होता है, और दोनो कथनों मे सादृश्य गम्यरूप मे प्रतीत होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी खिल उठती है, उसी प्रकार नायक को देखकर नायिका प्रसन्न हो उठती है। यह औपम्य व्यग्य रूप में ही अवभासित है। इन दोनो वाक्यो मे परस्पर विम्व-प्रतिविम्व भाव है, अत यहा दृष्टान्त अलकार है।

सर्वप्रथम उद्भट ने इसे काव्य-दृष्टान्त के रूप मे स्वीकार किया। दृष्टान्त नाम मे स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र मे यह अलकार तर्कशास्त्र के प्रभाव से आया, क्योंकि न्याय मे अनुमान प्रक्रिया मे दृष्टान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विश्वनाथ ने दृष्टान्त का लक्षण दिया है—

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिविम्बनम्।

—सा० द० १०. ५१

यथा—

तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त, एवं वाड्मनश्चक्षु श्रोत्र च॥

—प्रश्न० २.४

—जिस प्रकार मधुकरराज (मधुमक्खियों के सरदार) के उत्क्रमण करने पर सभी मक्खियां उड़ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर सभी बैठ जाती हैं, उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी प्राण के साथ उठे और बैठे।

उपरिलिखित मन्त्र में प्राण तथा मधुकरराज के उत्क्रमण तथा प्रतिष्ठान में समानधर्म का प्रतिबिम्बन होने से यहां पर दृष्टान्त अलंकार है।

इसी प्रकार देखिए,

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम् । मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥

—प्रश्न० ३ ३

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः, पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ।, स एषोऽकलोऽमृतो भवति ॥

—प्रश्न० ६ ५

इस मन्त्र में समुद्र की ओर बहती हुई नदियां तथा परिद्रष्टा की सोलह कलाओं के समानधर्म में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त अलंकार है।

तान् तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येत्, एवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥

—छा० १ ४ ३

यहां मृत्यु के द्वारा मनुष्य का अपने जाल में फंसाने की क्रिया को मछुए के द्वारा गहरे जल के भीतर से मछली को फंसाने के दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त किए जाने के कारण दृष्टान्त अलंकार है।

इसी प्रकार,

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते । एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतन-मलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते । प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥

—छा० ६ ८ २

इस मन्त्र में भी दृष्टान्त अलंकार है।

प्राणो वा आशाया भूयान् यथा वा [अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम् ।

—छा० ७ १५ १

इस मन्त्र मे रथचक्र की नाभि मे अरो के समर्पित होने तथा प्राण मे सम्पूर्ण जगत् के समर्पित होने की क्रिया मे बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव होने मे यहा दृष्टान्त अलकार है।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणा-येव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैव वा अर इद महद् भूतमनन्तमपार विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति । न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्य ॥

—बृ० २ ४ १२

इस मन्त्र मे जल मे लवण के लीन हो जाने तथा विज्ञान घन मे महद्भूत के लीन होने मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, अत यहा दृष्टान्त अलकार है।

और भी,

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्त सहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते । एवमेवाय पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न कचन काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति ॥

—बृ० ४ ३ १९

इस मन्त्र मे आकाश मे श्येन या सुपर्ण के श्रान्त हो जाने पर घोसले की ओर दौडने तथा खिन्न हुए पुरुष (जीवात्मा) के परमात्मा की ओर उन्मुख होने मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त अलकार है।

यथैव बिम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय भ्राजते तत्सुधान्तम ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एक कृतार्थो भवते वीतशोक ॥

—श्वे० २ १४

—जिस प्रकार मिट्टी से लिपा हुआ पिण्ड (बिम्ब=सुवर्ण पिण्ड, सुननीय शाकरभाष्य) शोधन किए जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है,

उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है।

इस मन्त्र मे शोधित सुवर्णपिण्ड तथा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले जीव मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव की योजना के कारण दृष्टान्त अलकार है।

यहा उपमानोपमेय-भाव में पूर्ण साम्य नही है, क्योंकि मिट्टी से सना हुआ सुवर्णखण्ड स्वच्छ किए जाने पर केवल चमकता भर है किन्तु अविद्या से मुक्त होने पर जीव परमात्मस्वरूप ही हो जाता है। अत यहा उपमा अलकार नही माना जा सकता।

सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥

—श्वे० ५ ११

—जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है, वैसे ही सकल्प, स्पर्श दर्शन और मोह से (कर्म होते हैं। फिर) यह देही क्रमश (विभिन्न) योनियो मे जाकर उन कर्मों के अनुसार रूप धारण करता है।

यहा पर अन्न, जल आदि के सेवन से होने वाली शरीर की वृद्धि मे तथा विविध योनिगत कर्मों के अनुसार देही के द्वारा रूप धारण करने म बिम्बप्रतिबिम्बभाव विद्यमान है, अत दृष्टान्त अलकार है।[1]

१ ४ १८ निदर्शना

निदर्शना भी गम्य-औपम्यमूलक अलकार है। इसमें भी दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा के समान दो वाक्य होते हैं। इन दो वाक्यो मे सादृश्य इव, यथा आदि सादृश्यसूचक शब्दो से व्यक्त नही किया जाता, अपितु व्यजित होता है। निदर्शना मे दो वाक्यार्थो मे परस्पर सम्बन्ध बाधित या अबाधित होकर सादृश्य मे पर्यवसित होता है। निदर्शना मे भी दृष्टान्त के समान दो वाक्यार्थों मे परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। दोनो में अन्तर यह है कि दृष्टान्त में दोनो वाक्य स्वतन्त्र

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य :—छां० १. १२. ४, बृ० २. ४. ७-११

होते हैं, एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं, परन्तु निदर्शना में वाक्य एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं और वे प्राय यदि, यत, तत् आदि योजकों से जुड़े रहते हैं। दृष्टान्त में धर्मसहित वस्तुओं में विम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है, परन्तु निदर्शना में यह आवश्यक नहीं।

निदर्शना या निदर्शनम का अर्थ है—सकेत करना। इसमे पहिले एक बात कही जाती है और तब सकेत देकर उसे स्पष्ट किया जाता है, जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है—

निदिश्यते दर्शनं सादृश्यप्रकटन निदर्शना। निदर्शनं दृष्टान्तकरणम्।

निदर्शना को बोध-दर्शना भी कहा जाता है, क्योंकि इस अलकार में किसी प्राकृतिक तत्त्व के निदर्शन से कोई न कोई शिक्षा दी जाती है।

निदर्शना भामह के समय से प्रचलित अलकार है। इसके बाद दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने भी इसके स्वरूप पर अपनी दृष्टि से प्रकाश डाला है। रुय्यक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना तथा असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना, एकवाक्यगा, अनेकवाक्यगा आदि रूपो में निदर्शना का विस्तार से विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने निदर्शना का लक्षण दिया है—

सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥

—सा० द० १० ५२

यथा—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

—कठ० ३ १४

इस मन्त्र में उस्तरे की धारा तथा मार्ग की दुर्गमता का परस्पर सम्बन्ध असम्भव होते हुए भी उनका सादृश्य (सम्बन्ध) बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से स्थापित किया गया है। जिस प्रकार छुरे की धारा तीक्ष्ण तथा दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग आत्मज्ञान के मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं, अत यहा निदर्शना अलकार है।

यथा—

> स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
> कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
>
> —ईश० ८

इस मन्त्र में ईश्वर के सभी विशेषणो के साभिप्राय अर्थात् उस के गुणो के द्योतक होने से परिकर अलकार है।

> पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
> अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥
>
> —कठ० १ ३

यहा सामर्थ्यहीन, मरणासन्न गौए दान मे देना पाप है, इस बात पर बल देने के लिए गौओ के पीतोदका, जग्धतृणा, दुग्ध-दोहा, निरिन्द्रिया साभिप्राय विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, अत यहा परिकर अलकार है।

> स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम् ।
> स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥
>
> —कठ० १ १३

यहा श्रद्दधानाय यह सार्थक विशेषण है, क्योकि श्रद्धावान् ही रहस्यपूर्ण उपदेश का अधिकारी होता है। श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानम्।[1] इस कारण यहा भी परिकर-अलकार है।

> दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
> अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
>
> —मु० २ १ २

इस मन्त्र मे ब्रह्म के स्वरूप व शक्ति के द्योतक सभी विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त होने से परिकर अलकार है।

> एष सर्वेश्वरः। एष सर्वज्ञः। एषोऽन्तर्यामी। एष योनिः सर्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।
>
> —मा० ६

---

1. भ० गीता ४. ३९

यहा ईश्वर की सत्ता व शक्ति के द्योतक होने से सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, योनि तथा सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ये सभी विशेषण साभिप्राय हैं, अत परिकर अलकार है ।

स होवाचाजातशत्रु —प्रतिलोम चैतद्यद् ब्राह्मण क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति । व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति । त पाणावादायोत्तस्थौ । तौ ह पुरुष सुप्तमाजग्मतु । तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन् पाण्डरवास सोम राजन्निति । स नोत्तस्थौ । त पाणिनापेष बोधयाचकार । स होत्तस्थौ ।

—बृ० २ १ १५

इस मन्त्र मे बृहन् पाण्डरवास, सोम, राजन आदि विशेषण प्रशसा-बोधक होने से साभिप्राय प्रयुक्त है, जिससे वह पुरुष अपनी महिमा सुनकर उठ पडे, अत यहा परिकर अलकार है ।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेय ध्रुवम् ।
विरज पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव ॥

—बृ० ४ ४ २०

यहा ब्रह्म के लिए अप्रमेयम्, ध्रुवम्, विरज, अज आदि साभिप्राय विशेषणा का प्रयोग हुआ है, अत परिकर अलकार है ।

स वृक्षकालाकृतिभि परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृत विश्वधाम ॥

—श्वे० ६ ६

यहा धर्मावहम्, पापनुदम्, भगेशम् आदि विशेषण साभिप्राय होने से परिकर अलकार है ।[1]

१.४२० परिकरांकुर

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह अलकार परिकर अलकार से उत्पन्न हुआ है । परिकर अलकार म विशेषणा का साभिप्राय प्रयोग

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २ १२, २ १८, मां० ७, बृ० ६ १.१-३, श्वे० ४ २१, ६.७, ६ १६

होता है, परन्तु परिकरांकुर में विशेष्य साभिप्राय होता है। अत परिकर के लक्षण में केवल विशेषण पद को हटाकर विशेष्य पद का प्रक्षेप करने से परिकरांकुर अलकार का लक्षण बन जाता है। इस प्रकार विशेष्य का साभिप्राय प्रयोग परिकरांकुर अलकार है।

मम्मट तथा विश्वनाथ ने परिकरांकुर का उल्लेख नही किया। यह परवर्ती आलकारिकों की कल्पना है। अप्पयदीक्षित ने परिकरांकुर का लक्षण दिया है—

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः ॥

—कुवलयानन्द ६३

कुछ उदाहरण देखिए,

तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत्कोऽसीति। अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥

—केन० ३.४

इस मन्त्र में जातवेदा (समस्त पदार्थों को जलाने वाला) साभिप्राय विशेष्य है, अत यहा परिकरांकुर अलकार है।

तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत्कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥

—केन० ३ ८

यहा मैं केवल वायु नही, अपितु मातरिश्वा—सूत्रात्मा वायु, मातरि (अन्तरिक्ष में) श्वयन (विचरण करने वाला) हूँ, इस प्रकार साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग होने से परिकरांकुर अलकार है।

तद्ध तद्वनं नाम। तद्वनमित्युपासितव्यम्। स य एतदेवं वेद अभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥

—केन० ४.६

यहा वनम्—वननीय, भजनीय—साभिप्राय विशेष्य के कारण परिकरांकुर अलकार है। वनम् √वन् (सम्भक्तौ)+अच् का प्रयोग ब्रह्म की अतिशयभजनीयता का द्योतक है।

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यम्।
परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥

—मु० २ २ १

इस मन्त्र मे गुहाचरम (हृदयरूपी गुहा मे स्थित) साभिप्राय विशेष्य के कारण परिकराङ्कुर अलकार है।

अन्न हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्न ब्रह्मोपासते।

अन्नाद भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्न तदुच्यते॥

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वय पुरुषविध। तस्य प्राण एव शिर। व्यानो दक्षिण पक्ष। अपान उत्तर पक्ष। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा।

—तै० २ २

यहा अन्नम्—अद्यते अत्ति च सार्थक विशेष्य है। इसका अभिप्राय है कि अन्न सम्पूर्ण प्राणियो का भोज्य है और उनका भोक्ता भी। अत यहा परिकराङ्कुर अलकार है।

स एतमेव सीमान विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वा। तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रय स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति॥

—ऐत० १ ३ १२

इस मन्त्र मे कहा गया है कि आत्मा सीमा (मूर्धा) को विदीर्ण कर इसी द्वार से देह मे प्रविष्ट हुआ, अत इस द्वार का नाम विदृति है, यह परमेश्वर का स्थान अर्थात् मार्ग होने से परमानन्द का हेतु है, अत नान्दन कहलाता है। इस प्रकार विदृति और नान्दन सार्थक विशेष्य होने से यहा परिकराङ्कुर अलकार है।

तस्मादिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा, परोक्षप्रिया इव हि देवा॥

—ऐत० १ ३ १४

प्रत्यक्ष नाम नही लेते। वैसे भी परोक्षप्रिया हि देवाः, फिर सम्पूर्ण देवताओ के भी देव का तो कहना ही क्या। देवजन, ऋषि तथा महर्षि नाम को रहस्य से रखते हैं तथा भेद की बात जिज्ञासु को ही कहते हैं।

इस मन्त्र मे इन्द्र साभिप्राय विशेष्य है, अत यहा परिकराकुर अलकार है।

त हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्रे। एतमु एवाङ्गिरस मन्यन्तेऽङ्गाना यद्रस ॥

—छा० १ २ १०

यहा अगिरा विशेष्य साभिप्राय है। अगिरा नामक महर्षि प्राण को साधन बनाकर उद्गीथ-उपासना किया करता था। मुख मे जप, पाठ तथा स्मरण किया करता था, इससे उसका कल्याण हो गया। इस कारण तब से इस प्राण को ही ब्रह्मज्ञानी अगिरा कहते हैं, क्योकि यह अगो का रस है, सब इन्द्रियो का सार है।

सा वा एषा देवता दूर्नाम। दूर ह्यस्या मृत्यु। दूर ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एव वेद ॥

—बृ० १ ३ ९

इस मन्त्र मे प्राणदेवता को दूर्नाम अर्थात् दूर, इस प्रकार विख्यात कहा गया है। इस प्राणदेवता से मृत्यु अर्थात् आसक्ति रूप पाप दूर है। प्राण असगधर्मी है, अत समीपस्थ होने पर भी इससे मृत्यु की दूरता है, सो दूर् इस प्रकार ही इसकी प्रसिद्धि है। इस प्रकार प्राण की विशुद्धि बतलाई गई है (तुलनीय शाकरभाष्य)। यहा दूर्नाम सार्थक विशेष्य होने से यहा परिकराकुर अलकार है।

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रु काश्यम्—ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाचाजातशत्रु—सहस्रमेतस्या वाचि दद्म, जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥

—बृ० २ १ १

यहा जनको जनकः साभिप्राय विशेष्य है, जिसका तात्पर्य है 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है' अर्थात् 'जनक देने की इच्छा वाला है, जनक ब्रह्मतत्त्व के श्रवण की इच्छा वाला है।' अत, यहा परिकराकुर अलकार है।

कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव । एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमिति तस्माद्वसव इति ॥

—बृ० ३ ९.३

इस मन्त्र में 'वासयोग्य' अथवा 'निवासस्थान' अर्थ होने से वसव साभिप्राय विशेष्य है। अर्थात् सर्वं वासयन्ति वसन्ति च (देखिए शाङ्करभाष्य)। अत यहा परिकराङ्कुर अलकार है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—श्वे० ३ ५

इस मन्त्र में गिरिशन्त—गिरौ स्थित्वा श सुख तनोतीति—साभिप्राय विशेष्य है कि 'हे पर्वतो पर शान्ति करने वाले परमेश्वर ! हमारी ओर भी मगलमय दृष्टिपात करो अर्थात् हमें कल्याणपथ में युक्त करो, अत यहा परिकराङ्कुर अलकार है।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवा गिरित्र ता कुरु मा हिंसी पुरुष जगत् ॥

—श्वे० ३.६

है ? इसका समाधान है कि यदि कारणरूप प्रस्तुत अर्थ गम्य है, तो उसे कार्यरूप में अभिहित किया जा सकता है। जैसे हयग्रीव राक्षस ने स्वर्ग को जीत लिया, इस कारण को न कह कर 'हयग्रीव ने इन्द्राणी के केशों का अलंकार करने वाली पारिजात की मंजरियों को मसल डाला'[1], इस कार्य का अभिधान किया गया है। यहाँ स्वर्गविजय-रूप व्यंग्य का कार्यरूप—पारिजातमंजरीमर्दन—से अभिधान किया गया है। अतः यहाँ पर्यायोक्त है।

पर्यायोक्त अलंकार की निरुक्ति से ही इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पर्यायेण प्रकारेण, प्रकारान्तरेण, कथनं पर्यायोक्तम्।

भामह तथा दण्डी ने पर्यायोक्त को स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने उल्लेख नहीं किया। रुद्रट ने इसे पर्याय के नाम से स्वीकार किया है। बाद में रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिकों ने इसका विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने पर्यायोक्त का लक्षण दिया है—

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।

—सा० द० १०. ६१

यथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—श्वे० ६. १४

इस मन्त्र में ऋषि का कथ्य है कि—

—सब तत्त्वों का प्रकाशक होने पर भी सूर्य में ब्रह्म को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं, न ही चन्द्र, तारे तथा विद्युत् में यह शक्ति है, बेचारी (साधारण) अग्नि की तो बिसात ही क्या ? भासमान जगत् भी स्वतःप्रकाशरूप परमात्मा

---

1. दृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥
(रुय्यक, अलं० सर्व० पृ० १४२)

के प्रकाशित होने से ही प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार लोहा आदि पदार्थ जलाने वाले अग्नि के साथ ही (उसी की शक्ति से) जलाते हैं, स्वत नहीं, उसी प्रकार ये सब सूर्यादि ब्रह्म के प्रकाश अर्थात दीप्ति से ही प्रकाशित होते हैं।

यहा ब्रह्म के स्वत प्रकाशस्वरूप गम्य अर्थ को प्रकारान्तर से वाच्य कर दिया गया है अत पर्यायोक्त अलकार है।

१ ४ २२. अर्थान्तरन्यास

एक अर्थ अर्थात कथन के समर्थन मे जब दूसरे अर्थ अर्थात् कथन को समर्थक के रूप में रखा जाता है, तब अर्थान्तरन्यास अलकार होता है जैसा कि इसकी निरुक्ति से स्पष्ट है—अर्थ्यते वर्णनीयत्वेन इष्यते इति अर्थः प्रस्तुतम्। अन्य अर्थ अर्थान्तरम् अप्रस्तुतम्। तस्य प्रस्तुतसमर्थकत्वेन न्यासः अर्थान्तरन्यास। अर्थान्तरन्यास अलकार मे भी दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा आदि अलकारो के समान दो वाक्य रहते हैं। इसमे एक समर्थ्य वाक्य होता है अर्थात् ऐसा वाक्य जिसका समर्थन करना इष्ट होता है, और दूसरा वाक्य समर्थक होता है जो कही हुई बात का समर्थन करता है। अर्थान्तरन्यास मे भी यद्यपि दो वाक्यो मे परस्पर औपम्य की प्रतीति व्यग्य के रूप मे होती है तथापि कवि का उद्देश्य सादृश्य की अपेक्षा समर्थन की ओर अधिक रहता है। अत, अर्थान्तरन्यास का बीज दो वाक्यो मे परस्पर समर्थ्य-समर्थकभाव है। एक कथन का समर्थन कई प्रकार से हो सकता है अत अर्थान्तरन्यास के कई भेद हो जाते हैं। जैसे कभी सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य, कभी कार्य से कारण या कारण से कार्य का समर्थन होता है। यह समर्थन कभी साधर्म्य से तथा कभी वैधर्म्य से होता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के प्रमुख आठ भेद हो जाते हैं।

विश्वनाथ का अर्थान्तरन्यास का लक्षण है—

सामान्य वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यञ्च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥

—सा० द० १० ६१ ६२

यथा—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥

—कठ० २ ४

—जो विद्या और अविद्या नाम से जानी गई हैं, वे दोनों एक दूसरे से विपरीत तथा भिन्न मार्ग को ले जाने वाली हैं। मैं तुझ नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूं, क्योंकि बहुत सी कामनाएं भी तुझे नहीं लुभा सकीं।

यहा सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलकार है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयधीरा पण्डितमन्यमाना ।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—मु० १ २ ८

इस मन्त्र मे अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा इस विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का समर्थन हुआ है, अत यहा अर्थान्तरन्यास अलकार है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनि कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥

—श्वे० २ ७

—सवितादेव के रस प्रसव—प्रकाश के प्रकट होने—से ब्रह्म का सेवन करना चाहिए, उसी प्रकाश मे आत्म जागृति का स्थान करना चाहिए। इससे उपासक के पूर्तकर्म (शुभकर्म) का नाश नहीं होता।

यहा पूर्वनिर्दिष्ट अर्थो की पुष्टि के लिए अन्तिम वाक्य (अर्थ) दिया गया है, अत यहा भी अर्थान्तरन्यास अलकार स्पष्ट है।

१.५. विरोधमूलक अलंकार

जिन अलकारो का आधार विरुद्ध वचन या उक्ति होता है, वे विरोधमूलक अलकार कहलाते है जैसे विभावना तथा विशेषोक्ति। इन अलकारो मे विरोधवचन दिखाई देता है, क्योकि कवि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति या कारण के रहते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति बताता है। इस प्रकार विरोधाश्रित वचन कहने से वे विरोधमूलक अलकार कहलाते हैं।

१.५ १. विरोध

विरोध का अभिप्राय एक आश्रय के साथ असम्बद्ध रूप से प्रतिपादित दो पदार्थो के ऐसे परस्पर सम्बन्ध का अभिप्राय है जो कि उस आश्रय पर उनमे आभासित हुआ करता है। यह विरोध प्ररूढ अथवा वास्तविक तथा अप्ररूढ अथवा आपाततः प्रतीत दो रूपो का हो सकता है। इनमे वास्तविक विरोध तो एक महादोष है, किन्तु आपाततः प्रतीत विरोध अथवा विरोधाभास एव अलकार अथवा वैचित्र्य है। विरोध का क्षेत्र विभावना एव विशेषोक्ति के क्षेत्र से कही अधिक व्यापक है। विरोध के नाम मे ही स्पष्ट है कि इसमे विषमता का पुट रहता है। परन्तु इस विषमता का निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए विरोधाभास के मूल मे प्राय श्लेष अलकार रहता है, जिससे विषमता लाने वाले अर्थ का परित्याग करके अन्य उपयोगी अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है। इससे विषमता का परिहार हो जाता है।

विरोध प्राचीन अलकार है जिसका प्रारम्भ भामह के समय से हुआ। दण्डी आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। कुछ आचार्य इसे केवल विरोध तथा कुछ विरोधाभास कहते हैं।

विरोधाभास की व्युत्पत्ति है—आ ईषद् भासत इत्याभास। विरोधश्चासावाभासश्चेति विरोधाभास।

विश्वनाथ का विरोधाभास का लक्षण है—

> जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभि।
> क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्य द्रव्येण वा मिथ ॥
> विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृति ।

—सा० द० १० ६८

इस प्रकार विश्वनाथ ने विरोध के लक्षण के साथ उसके दस भेद भी स्वीकार किए हैं।

इस अलकार के उपनिषदो मे प्राप्त कतिपय उदाहरण देखिए—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

—ईश० ४

इस मन्त्र मे परमेश्वर अथवा आत्मतत्त्व की क्रियाएँ अनेजत् और जवीय, धावत और तिष्ठत परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने से विरोधाभास अलकार है। वास्तव मे यहा विरोध नही है, क्योंकि आत्मतत्त्व की सर्वत्र सत्ता मानने एव उसको नित्य मानने से इन दोषो का परिहार हो जाता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत॥

—ईश० ५

इस मन्त्र मे आत्मतत्त्व के—एजति-नैजति, दूरे-अन्तिके, सर्वस्य अन्तरस्य-सर्वस्य बाह्यत आपातत परस्परविरुद्ध भासित होने वाले धर्म प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु ब्रह्म को मायारहित तथा मायासहित मानने एव ससार का कारण मानने से उसमे दिखाई देने वाले इन विरुद्ध धर्मों का परिहार हो जाता है। अत यहा विरोधाभास अलकार है।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं यदस्य च देवेषु। अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥

—केन २ १

इस मन्त्र मे सुवेदेति तथा दभ्रमेव त्व वेत्थ परस्पर विरुद्धार्थक पद प्रतीत होते हैं। किन्तु वस्तुत ये पद ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता अर्थात् सर्वविषयातीतता के बोधक हैं।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य: शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्यु।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट:॥

—कठ० २.७

इस मन्त्र के शृण्वन्तोऽपि न विद्यु भाग मे विरोध प्रतीत होता है। परन्तु, कुसस्कार से ग्रस्त जन आत्मवर्णन सुनकर भी नही समझते कि आत्मा क्या है, इस प्रकार यहा विरोध का आभास मात्र होने से विरोधाभास अलकार है।

> आसीन दूर व्रजति शयान याति सर्वत ।
> कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥
>
> —कठ० २ २१

इस मन्त्र म आसीनो व्रजति तथा शयानो याति मे क्रिया से क्रिया का विरोध, एव मद अमदम् मे गुण से गुण के विरोध की प्रतीतिमात्र होने से विरोधाभास अलकार है।

इसी प्रकार,

> अशरीर शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
> महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥
>
> —कठ० २.२२

यहा ईश्वर का शरीरो मे अशरीरी तथा चलितो मे निश्चल रूप मानना विरुद्ध सा प्रतीत हो रहा है, पर आत्मा मे नित्यत्व एव सर्वव्यापकत्वादि गुणो के होने से विरोध का परिहार हो जाता है, अत विरोधाभास अलकार है।

> बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।
> दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् ॥
>
> —मु० ३ १ ७

यहा भगवान् को दूर से दूर तथा समीप से समीप मानने मे विरोध-सा प्रतीत हो रहा है, पर सर्वव्यापित्व धर्म के कारण विरोध का परिहार हो जान से विरोधाभास अलकार है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के षष्ठ अनुवाक मे, ब्रह्म को सत्-असत्, निरुक्त अनिरुक्त अर्थात् निर्वचन करने योग्य और अनिर्वचनीय, निलयन अनिलयन, अर्थात् आश्रय-अनाश्रय, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य अनृत आदि परस्परविरोधी भासमान तत्त्वो से युक्त वर्णित करने से विरोधाभास अलकार है। यथा—

असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ॥

...... तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवत् । यदिदं किंच । तत्सत्यमित्याचक्षते ॥

—तै० २ ६

हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः ॥

—तै० ३. १०

इस मन्त्र मे अहमन्नम्-अहमन्नाद —मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्न को खाने वाला हूँ अर्थात् मैं ही भोग्य हूँ और भोक्ता भी—में विरोध प्रतीत हो रहा है, परन्तु ब्रह्मवेत्ता द्वारा सर्व ब्रह्ममय जगत् मानने से विरोध का परिहार हो जाता है।

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डाल पौल्कसोऽपौल्कस श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापस । अनन्वागत पुण्येनानन्वागत पापेन । तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥

—बृ० ४ ३ २२

इस मन्त्र मे सुषुप्तिस्थ आत्मा की निःभय तथा निःशोक स्थिति का वर्णन विरुद्ध धर्मों से करने के कारण विरोधाभास अलकार है।

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरण सुहृत् ॥

—श्वे० ३ १७

इस मन्त्र मे समस्त इन्द्रियवृत्तियो के रूप मे अवभासित होता हुआ भी परमात्मा का सर्वेन्द्रिय-विवर्जित रूप मे वर्णन होने से विरोधाभास अलकार है।

त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी ।
त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्व जातो भवसि विश्वतोमुख ॥

—श्वे० ४. ३

इस मन्त्र मे एक ही पदार्थ को स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी इत्यादि परस्परविरुद्ध धर्मों से वर्णन करने पर आपातत पदार्थों के सम्बन्ध मे विरोध-सा प्रतीत हो रहा है, पर जब उस ईश्वरतत्त्व की सर्वत्र विद्यमानता का ध्यान किया जाता है, तो मूल रूप से सब मे उसके विद्यमान होने से सभी विरुद्ध धर्मों का परिहार हो जाता है। अत यहा विरोधाभास अलकार है।[1]

१.५ २ विभावना

विभावना विरोधमूलक अलकार है। लोक मे साधारण नियम है कि कारण से कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टी से घडा बनता है। कार्य कारण के इस लोकप्रसिद्ध नियम का विभावना अलकार में व्यतिक्रम देखा जाता है। यहा कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है। ऐसी बात नही कि कारण बिल्कुल ही नही होता। वह होता तो है, परन्तु लोकप्रसिद्ध नही होता। अत एव आपातत प्रतीत होता है कि कारण के बिना कार्य हो रहा है। परन्तु, वास्तव मे गुप्त कारण वहा रहता अवश्य है। जैसे 'नायिका अग्नि के बिना ही जल रही है' वाक्य मे दाह के कारण 'अग्नि के बिना ही' दाहरूपी कार्य की उत्पत्ति बताई गई है। अग्नि दाह का लोकप्रसिद्ध कारण है। कवि इस लोकप्रसिद्ध कारण कार्य के नियम का उल्लघन करके चमत्कार उत्पन्न करता है। परन्तु, वस्तुत कविकल्पित कारण तो यहा है ही। नायिका के दाह का कारण नायक का वियोग है, जिसे कवि ने गुप्त रखकर अपने कथन मे वैषम्य उत्पन्न किया है। इस प्रकार विभावना तथा इस वर्ग के विशेषोक्ति आदि सभी अलकारो मे विषमता उत्पन्न करके कवि वैचित्र्य लाने का प्रयास करता है। परन्तु, कारण-कार्य के नियम के उल्लघन की यह विषमता आपातत ही प्रतीत होती है। गूढ कारण को जान लेने पर यह विषमता दूर हो जाती है। चाहे लोकप्रसिद्ध कारण के अभाव म कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई हो तथापि कविकल्पित गूढ कारण तो वहाँ अवश्य रहता है। कारण के कविकल्पित होने के कारण ही इस अलकार मे सौन्दर्य आ जाता है।

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —श्वे० २. १८, २. २०

विभावना की व्युत्पत्ति से इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

विभावयति कारणान्तर—अप्रसिद्धकारण, विदग्धमात्रवेद्य कारण—कल्पयतीति विभावना अथवा विभाव्यते अनुमीयते कारणान्तर प्रसिद्धात् कारणाद् अन्यत् कारण यस्याम्।

विश्वनाथ ने विभावना का लक्षण दिया है—

विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता॥

—सा० द० १० ६६

यथा—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान् पथ सृजते। न तत्रानन्दा मुद प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान्मुद प्रमुद सृजते। न तत्र वेशान्ता पुष्करिण्य स्रवन्त्यो भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्करिणी स्रवन्ती सृजते। स हि कर्ता॥

—बृ० ४ ३ १०

यहा कारण के बिना कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलकार है।

इसी प्रकार,

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम॥

—श्वे० ३. १९

इस मन्त्र मे बिना हाथ-पैर के ग्रहण तथा चलन शक्ति, बिना नेत्रो के दर्शन शक्ति, बिना कानो के श्रवण सामर्थ्य आदि का वर्णन होने से विभावना अलकार है।

१.५ ३ विशेषोक्ति

विभावना से ठीक विपरीत विशेषोक्ति अलकार है। विभावना मे कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाती है, तो विशेषोक्ति मे कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना दिखाया जाता है। जब कवि अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित ऐसी बात

कहता है जहा कारण के होने पर भी कार्य का ग्रभाव हो, तो वहा विशे-षोक्ति ग्रलकार होता है। निष्कर्ष यह है कि प्रसिद्ध कारण के विद्यमान होने पर भी उसके फल के ग्रभाव का कथन विशेषोक्ति ग्रलकार है। कारण के कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ रहते भी यदि कार्य नही हो रहा है तो इसका ग्रर्थ है कि ग्रवश्य कुछ न कुछ कार्य की उत्पत्ति मे बाधक है। परन्तु कवि कार्य की उत्पत्ति के बाधक इस तत्त्व का उल्लेख न करके ग्रपने कथन मे वैचित्र्य लाना चाहता है, जो कि प्रत्येक ग्रलकार का प्राण है। सहृदय पाठक इस ग्रकथित बाधक तत्त्व की कल्पना कर लेते हैं, तो प्रसिद्ध कारण के रहते भी कार्य की उत्पत्ति का ग्रकथन उन्हे ग्रसगत नही लगता प्रत्युत इस विषम कथन मे चमत्कार की प्रतीति होती है।

विश्वनाथ का विशेषोक्ति का लक्षण है—

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

—सा० द० १० ६७

यथा—

न वधेनास्य हन्यते। नास्य साम्येन साम। घ्नन्ति त्वेवैनम्। विन्द्या-दयन्तीव। अप्रियवेत्तेव भवति। अपि रोदितीव। नाहमत्र भोग्य पश्यामीति॥

—छा० ८ १० २

इस मन्त्र मे हनन, साम्यता ग्रादि के हेतु के विद्यमान होने पर भी वध, साम ग्रादि फल नही हो रहा, ग्रत यहा विशेषोक्ति ग्रलकार है।

१.५ ४. विषम

जब ग्रननुरूप पदार्थों का परस्पर ससर्ग वर्णित हो तब विषम ग्रलकार होता है। जैसे 'युद्धभूमि मे प्रतापी राजा की तमालपत्र की सी नीली कृपाण शरद् ऋतु की चादनी की भाति धवल यश का विस्तार कर रही है।' यहा नीली तलवार तथा धवल यश इन दो विरोधी पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, ग्रत विषम ग्रलकार है। यह सम ग्रलकार से ठीक विपरीत है। ग्रत समालकार का विपर्याय रूप ही विषमालकार का सामान्य लक्षण है।

विषम के तीन रूप है—(१) कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियाओ का परस्पर विरुद्ध रूप मे वर्णन करना, (२) आरब्ध कार्य की विफलता और उसके साथ ही उसमे अनर्थ की उत्पत्ति, (३) दो विरुद्ध पदार्थो का परस्पर उपनिबन्धन। विषम के इन तीनो रूपो मे असमता को उभारा जाता है। इससे स्पष्ट है कि विषम का सौन्दर्य विरोध के कारण है और यह इस दृष्टि से विरोधालकार का प्रसव है जिसने बाद मे अपना स्वतन्त्र स्थान बना लिया। विषम मे कविप्रतिभा का सस्पर्श आवश्यक है, क्योकि स्वभावत अननुरूप पदार्थों के ससर्ग का वर्णन अनुचित है।

विश्वनाथ ने विषम का लक्षण दिया है—

गुणौ क्रिये वा यत्स्याता विरुद्धे हेतुकार्ययो।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भव।
विरूपयो सघटना या च तद्विषम मतम्॥

—सा० द० १० ७०

यथा—

असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वा सदजायत।
तदात्मान स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते॥

—तै० २ ७

इस मन्त्र मे असत् से सत् की उत्पत्ति का वर्णन होने से कार्य और कारण के परस्परविरुद्ध गुणो का उल्लेख है, अत यहा विषम अलकार है।

१५५ अन्योन्य

अन्योन्य अलकार का स्वरूप इसके नाम से ही स्पष्ट है। जब दो पदार्थ एक क्रिया के द्वारा परस्पर कारण होते हैं, तब अन्योन्य अलकार होता है। जैसे, 'हसो की शोभा सरोवरो से होती है और सरोवरो की शोभा हसो से होती है।' इस प्रकार ये दोनो परस्पर अपने को शोभित करते है। यहा हस और सरोवर दोनो पदार्थ एक क्रिया—शोभा—के द्वारा एक दूसरे के गौरव का कारण हैं अत अन्योन्य अलकार है। यहा परस्पर क्रिया से परस्पर उपकारजनन से वैचित्र्य के कारण अलकार है। निष्कर्ष यह है कि अन्योन्य मे दो पदार्थ परस्पर कारण-

कार्य रूप में विद्यमान रहते हैं। ठीक यही बात उपमेयोपमा में भी होती है। उपमेयोपमा से इसका यह भेद है कि इसमें दो पदार्थ कारण-कार्यरूप में विद्यमान रहते हैं पर उपमेयोपमा में उपमेय-उपमान भाव से। परन्तु वहा एक पदार्थ जो पहले उपमान होता है फिर वही उपमेय बन जाता है। उसी प्रकार अन्यान्य मे भी जो पदार्थ पहिले कार्य था वही कारण बन जाता है। अत इन दोनो अलकारो का बीज पारस्पर्यजनक है, और यही इन अलकारो मे चमत्कार का आधार है। ध्यान रहे कि 'अन्योन्य' विरोधगन्धी अलकार है, क्योकि दो पदार्थो की एक क्रिया के द्वारा परस्परजनकता विरुद्ध-सी प्रतीत होती है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है—

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियाया कारण मिथ ।

—सा० द० १० ७३

यथा—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवाय विजयोऽस्माकमेवाय महिमेति ॥

—केन० ३ १

इस मन्त्र मे ब्रह्म तथा देवताओ का परस्पर एक दूसरे को महिमायुक्त करने का वर्णन होने से अन्योन्यालकार है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ॥

—कठ० २ ३

यहा आत्मा तथा साधक मे परस्पर वरण तथा प्राप्ति का वर्णन होने से अन्योन्य अलकार स्पष्ट है।

प्राणे शरीर प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राण प्रतिष्ठित। ... ॥

—तै० ३ ७

... अप्सु ज्योति प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिता। ... ॥

—तै० ३ ८

... पृथिव्यामाकाश प्रतिष्ठित। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। ... ॥

—तै० ३.९

उपर्युक्त तीनो मन्त्रो मे क्रमश प्राणे शरीरम्, शरीरे प्राण , अप्सु ज्योति ज्योतिष्याप , पृथिव्यामाकाश आकाशे पृथिवी आदि वर्णन मे एक दूसरे को एक दूसरे पर आश्रित मानने से अन्योन्यालंकार है।

इय पृथिवी सर्वेषा भुताना मधु । अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्या पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमय पुरुषो यश्चायमध्यात्म शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतमिद ब्रह्मेद सर्वम् ।

—बृ० २ ५ १

इस मन्त्र मे पृथिवी द्वारा मधु एव मधु द्वारा पृथिवी की सुखप्रदता का वर्णन है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषक होने के कारण यहा अन्योन्य अलकार है।

१५.६ विशेष

विशेष विरोधमूलक अलकार है। इसका कोई सामान्य लक्षण नही दिया गया है। परन्तु इसके लक्षण मे आचार्यो ने इसके तीन भेदो का प्रतिपादन किया है । इससे प्रतीत होता है कि तीन अलकार मिलकर एक 'विशेष' अलकार हो गए है । अलकार-सर्वस्व की टीका मे भी कहा गया है कि विशेषपदात्र त्रयो न पुनरेकस्त्रिविध. । लक्षणस्य भिन्नत्वात् ।[1] इनमे पहिला विशेष वह है जहा प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति दिखाई जाए। दूसरा विशेष वह है जहा एक ही वस्तु का अनेक स्थानो मे, एक ही समय मे वर्णन किया जाए। तीसरा विशेष वह है जहा एक कार्य करते हुए अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन हो जाए। रुय्यक ने विशेष के इन तीन रूपो को विवृत करते हुए कहा है—इहाधारमन्तरेणाधेय न वर्तत इति स्थितावपि यत्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्ध स एको विशेषः। यच्चैक वस्तु परिमित युगपदनेकधा वर्तमान क्रियते स द्वितीयो विशेष । यच्च किचिदारभमाणस्याशक्यवस्त्वन्तरण स तृतीयो विशेष ।[2]

विश्वनाथ ने विशेष का लक्षण दिया है—

यदाधेयमनाधारमेक चानेकगोचरम् ॥
किंचित्प्रकुर्वत कार्यमशक्यस्येतरस्य वा
कार्यस्य करण दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्तत ॥

—सा० द० १० ७३-७४

१. अल० सर्व०, विमर्शिणी टीका०, पृ० १७२
२. रुय्यक, अल० सर्व०, पृ० १७१

विशेष नवीन अलकार है, क्योंकि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया। रुद्रट ही प्रथम आलकारिक हैं, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है।

कतिपय उदाहरण देखिए—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

—ईश० ६

यहा पर एक ही आत्मतत्त्व की अनेकत्र स्थिति के कारण विशेष अलकार है।

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥

—मु० २.१.९

यहा वैचित्र्यपूर्ण विधि से कहा गया है कि एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म अनेको—समुद्र, पर्वत, नदियो, अन्न, रस आदि—का कारण है और इन अनेको मे विद्यमान है, अत यहा विशेष अलकार है।

ब्रह्मैवेदममृत पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृत ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्॥

—मु० २.२.१२

इस मन्त्र मे भी एक ब्रह्म की आगे-पीछे, नीचे-ऊपर, दक्षिण-उत्तर आदि अनेकत्र स्थिति के चमत्कारी वर्णन मे विशेष अलकार है।

··· स य एववित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसक्रामति। एत प्राणमयमात्मानमुपसक्रामति। एत मनोमयमात्मानमुपसक्रामति। एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्रामति॥

—तै० २.८

इस मन्त्र मे एक ही ज्ञानी द्वारा अनेकत्र—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय शरीर की आत्मा मे—सक्रमण का अद्भुत वर्णन होने से विशेष अलकार है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली के सभी अनुवाक और विशेष कर दशम अनुवाक का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

। स यश्चाय पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एक । स य एववित् । अस्माल्लोकात प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसक्रम्य । एत प्राणमयमात्मानमुपसक्रम्य । एत मनोमयमात्मानमुपसक्रम्य । एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्रम्य। इमाल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसचरन् । एतत् साम गायन्नास्ते । ॥

—तै० ३ १०

इसी प्रकार,

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्व भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नम ॥

—श्वे० २ १७

इस मन्त्र मे एक ही देव का अनेक स्थानो मे वर्णन होने से विशेष अलकार है ।

यहा उल्लेख अलकार की भ्रान्ति नही होनी चाहिए । उल्लेख मे एक ही वस्तु अनेक रूप से दिखाई जाती है, परन्तु इस मन्त्र मे देव की अनेकरूपता न दिखाकर उसकी अनेकत्र स्थिति का निर्देश है ।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभि ।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥

—श्वे० ३ २

यहा पर एक ही रुद्र की अनेकत्र स्थिति का वर्णन होने के कारण विशेष अलकार है ।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

—श्वे० ३ १४

एक परम पुरुष के अनेक आधार होने से यहा विशेष अलकार है । यहा आलकारिक वर्णन द्वारा परम पुरुष की महिमा (सर्वव्यापकता) स्पष्ट द्योतित हो रही है ।[1]

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —श्वे० ३. ३, ३ १६, ४ ११, ४ १५, २. २

१.६. शृंखलाबन्धमूलक अलंकार

१ ६ १ कारणमाला

कारणमाला नाम से ही इस अलकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कारणो की माला=कारणमाला। जहा उत्तरोत्तर वस्तु के लिए पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु कारण के रूप मे उपनिबद्ध हो, वहा कारणमाला अलकार होता है। जैसे, 'विद्वानो की सगति से शास्त्रज्ञान होता है, शास्त्रज्ञान से विनय प्राप्ति और विनय से प्रेम।'[1] यहा कारणो की माला है। शास्त्रज्ञान का कारण विद्वानो की सगति, विनय प्राप्ति का कारण शास्त्रज्ञान इत्यादि। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु के लिए पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु कारण है। कारणो की यह परम्परा चलती रहती है। अत कारणमाला की अलकार-कल्पना मे 'कार्यकारण क्रम' निमित्त रूप है, न कि पदार्थो का शृखला रूप से उपनिबन्धन। अत एव कारणमाला यह सार्थक अभिधान है। कारण-माला अलकार मे कार्यकारण क्रम के वैलक्षण्य मे ही सौन्दर्य है। जैसा कि रुय्यक ने कहा है—

> कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतु ।
>
> —अल० सर्व०, पृ० १७७

भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आलकारिको मे से किसी ने भी कारणमाला का उल्लेख नही किया। रुद्रट ने ही सर्वप्रथम इसका विवेचन किया है। बाद मे मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार किया।

विश्वनाथ का कारणमाला का लक्षण है—

> पर पर प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
>
> तदा कारणमाला स्यात् ॥
>
> —सा० द० १०.७६

---

१ श्रुत कृतधियां सगाज्जायते विनय श्रुतात्।
लोकानुरागो विनयान्न कि लोकानुरागत ॥
(सा० द०, सपा० शालिग्राम, पृ० ३५५)

उपनिषदो मे उपलब्ध इसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार है—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मन सत्य लोका कर्मसु चामृतम् ॥

—मु० १ १ ८

इस मन्त्र मे पूर्व पूर्व वस्तु उत्तर उत्तर वस्तु के प्रति कारण होने से कारणमाला अलकार है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूत । आकाशाद्वायु । वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्भ्य पृथिवी । पृथिव्या ओषधय । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुष ।॥ स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय । तस्येदमेव शिर । अय दक्षिण पक्ष । अयमुत्तर पक्ष । अयमात्मा । इद पुच्छ प्रतिष्ठा ॥

—तै० २ १

महा आत्मा (परमात्मा) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल * इस प्रकार पूर्व पूर्व वस्तु उत्तर उत्तर की उत्पत्ति का कारण होने से कारणमाला अलकार है।

तमभ्यतपत् । तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्डम् । मुखाद् वाग् । वाचोऽग्नि ॥ नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्या प्राण । प्राणाद् वायु ॥ अक्षिणी निरभिद्येताम् । अक्षीभ्या चक्षु । चक्षुष आदित्य. ॥ कर्णौ निरभिद्येताम् । कर्णाभ्या श्रोत्रम् । श्रोत्राद्दिश ॥ त्वड् निरभिद्यत । त्वचो लोमानि । लोमभ्य ओषधिवनस्पतय ॥ हृदय निरभिद्यत । हृदयान्मन । मनसश्चन्द्रमा ॥ नाभिर्निरभिद्यत । नाभ्या अपान । अपानान्मृत्यु ॥ शिश्न निरभिद्यत । शिश्नाद्रेत । रेतस आप ॥

—ऐत० १.१ ४

इस मन्त्र मे भी उपर्युक्त लक्षणानुसार कारणमाला अलकार ही है।

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति । चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यति । आदित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति । दिवि तृप्यन्त्या यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति । तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥

—छा० ५ १९ २

इस मन्त्र मे पूर्व पूर्व शक्ति उत्तर उत्तर शक्ति की तृप्ति मे कारण होने से कारणमाला अलकार है।

मासेभ्य पितृलोकम् । पितृलोकादाकाशम् । आकाशाच्चन्द्रमसम् । एष सोमो राजा । तद्देवानामन्नम् । त देवा भक्षयन्ति ॥

—छा० ५ १०.४

इस मन्त्र मे भी पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर की प्राप्ति के वर्णन से कारणमाला अलकार है।

इसी प्रकार,

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि । सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष ॥ —छा० ७. २६. २

इस मन्त्र मे भी कारणमाला अलकार है।

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानि क्षीणै क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीय देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम ॥

—श्वे० १ ११

यहा पूर्व पूर्व वाक्य उत्तर उत्तर के प्रति कारण है। देव को जानकर सर्वपाश-हानि, पाशो की हानि से जन्म-मृत्यु की हानि, इससे तृतीय अवस्था (सकल ऐश्वर्य-पद-प्राप्ति), उससे कैवल्य लाभ, इस प्रकार यहा कारणमाला अलकार है।

इसी प्रकार,

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावाश्च सर्वान् विनियोजयेद्य ।
तेषामभावे कृतकर्मनाश कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्य ॥

—श्वे० ६. ४

यहा भी कारणमाला अलकार स्पष्ट है। ऋषि को इस अचिन्तित अलकार-योजना के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति मे कितना वैचित्र्यपूर्ण सहयोग मिला है।[1]

१ ६ २ सार

सार का अभिप्राय है निष्यन्द या उत्कर्ष । इस अलकार का सार नाम अन्वर्थक है, क्योंकि इसमे किसी वस्तु का धाराधिरोह के

१. अन्यत्र द्रष्टव्य :—मु० २. १. ५-८; छा० ४.१७ ७-८, ५. २०. २, ५ २१. ३, ८ ६ १-२

समान उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया जाता है। इसमे वस्तुओ की शृखला होती है जिनमे उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाते हुए अन्तिम वस्तु मे पर्यवसान होता है। जैसे, 'राज्य मे पृथ्वी सार है, पृथ्वी मे नगर, नगर मे महल, महल मे शय्या तथा शय्या मे रतिसर्वस्व-सुन्दरी सार है।'[1] यहा वस्तुओ की शृखला बनाकर उनमे उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए सुन्दरी को सब का निष्यन्द=सार=परमोत्कर्ष बताया गया है कि सुन्दरी उत्कर्ष की चरम सीमा है, उससे आगे अन्य कोई वस्तु उत्कृष्ट नही। अत यहा सार अलकार है। रुय्यक सार को उदार कहते हैं—उत्तरोत्तर-मुत्कर्षणमुदार'।[2] कारणमाला के समान सार भी शृखलाबन्ध रूप है।

प्राचीन आलकारिको ने सार का उल्लेख नही किया है। सर्वप्रथम रुद्रट ने इसका लक्षण उपनिबद्ध किया। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी आचार्यो ने इसे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ का सार का लक्षण है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुन सारमुच्यते।

—सा० द० १० ७८

कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् पर॥

—कठ० ३ १०

इस मन्त्र मे पूर्व पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु को सूक्ष्म (उत्कृष्ट) बताया गया है, अत यहा सार अलकार है।

---

१ राज्ये सार वसुधा वसुधायामपि पुर पुरे सौधम्।
सौधे तल्प तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्॥
(सा० द०, अनु० शालिग्राम, पृ० ३२६)

२. रुय्यक, अल० सर्व०, पृ० १७९

इसी प्रकार,

महत परमव्यक्तमव्यक्तात पुरुष पर ।
पुरुषान पर किंचित् सा काष्ठा सा परा गति ।।

—कठ० ३ ११

इस मन्त्र में भी पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर की सूक्ष्मता का वर्णन होने से सार अलकार है।

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।।

—कठ० ६ ७

अव्यक्तात् पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति ।।

—कठ० ६ ८

इन मन्त्रो म भी पूर्व पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु की उत्कृष्टता अथवा प्रबलता का वर्णन है, अत यहा भी सार अलकार है।

एषा भूताना पृथिवी रस । पृथिव्या आपो रस । अपामोषधयो रस । ओषधीना पुरुषो रस । पुरुषस्य वाग्रस । वाच ऋग्रस । ऋच साम रस । साम्न उद्गीथो रस ।। स एष रसाना रसतम परम परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ ।।

—छा० १ १. २-३

इन मन्त्रो म पचमहाभूतों का सार पृथिवी, पृथिवी का सार जल, जलो का सार ओषधिया, ओषधियो का सार पुरुष ··· इस प्रकार उत्तरोत्तर वस्तु के उत्कर्ष के वर्णन के कारण सार अलकार है।

१. ७. काव्यन्यायमूलक अलंकार

१.७१ पर्याय

पर्याय का अर्थ है—क्रम । पर्यायोऽवसरे क्रमे (अमरकोश) । इस अलंकार मे एक वस्तु क्रम से अनेक मे होती है या की जाती है, अत क्रम के कारण इसे पर्याय कहते है। सर्वस्वकार ने भी कहा है— अत एव क्रमाश्रयणात् पर्याय इत्यन्वर्थाभिधानम् (पृ० १८९) । तरलटीकाकार का कथन है—पर्यायवान् पर्याय इत्यर्थ । पर्याय का महत्त्व इस बात मे है कि एक वस्तु क्रमपूर्वक अनेक स्थानो मे हो। जब एक वस्तु दूसरे स्थान पर जाती है, तब उसका प्रथम स्थान से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। जैसे, कुमारसम्भव मे तपोलीन भगवती पार्वती के वर्णन मे वर्षा की पहली बूँदो का क्षण भर के लिए पलको पर टिकना, तदनन्तर होठो पर रुकना, फिर उन्नत स्तनो से टकराना आदि मे उन्ही वर्षाबिन्दुओ की क्रमपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर अवस्थिति होने के कारण पर्याय अलकार है।[1] केवल एक वस्तु का क्रमश अनेक मे अवस्थान ही पर्याय नही है, अपितु अनेक वस्तुओ का एक मे क्रमश अवस्थान या सम्पादन भी पर्याय है। सर्वस्वकार ने भी कहा है—एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे प्रसिद्धति स एक पर्याय । एकस्मिन्नाधारे अनेकमाधेय यस्स द्वितीय पर्याय ।[2]

पर्याय अलकार का आरम्भ रुद्रट के समय से है। रुद्रट ने इस अलकार के दोनो रूपो को स्वीकार किया और फिर परवर्ती सभी आलकारिको ने इसे इसी रूप मे ग्रहण कर लिया।

विश्वनाथ का पर्याय का लक्षण सर्वस्वकार से प्रभावित है—

> क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेक चैकग क्रमात् ।
> भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ॥
>
> —सा० द० १० ८०

---

१. स्थिता क्षण पक्ष्मसु ताडिताधरा पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता ।
वलीषु तस्या स्खलिता प्रपेदिरे क्रमेण नाभि प्रथमोदबिन्दव ॥
(कु० स० ५ २४)

२. रुय्यक, अल० सर्व०, पृ० १८९

यथा—

> अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम् ।
> स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽगिरसे परावराम् ॥
> —मु० १ १ २

इस मन्त्र मे एक ही वस्तु—ब्रह्मविद्या—का भिन्न-भिन्न काल मे क्रमश अनेको—अथर्वा, अगिर, भरद्वाजगोत्रीय सत्यवाह, अगिरा—के पास जाने का वर्णन करने से पर्याय अलकार है ।

> एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सनिविष्ट ।
> तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
> —श्वे० ६ १५

यहा एक हस (हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति) अर्थात् परमात्मा के क्रम से अनेकत्र—भुवन के बीच, ज्योति मे तथा जल मे—विद्यमान होने के कारण पर्याय अलकार है ।

१ ७.२. परिवृत्ति

परिवृत्ति का अर्थ है—विनिमय अर्थात् एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु लेना । तिल देकर तण्डुल लेना विनिमय है । जैसा वामन झलकीकर भी काव्यप्रकाश की टीका (पृ० ६७४) मे कहते हैं—परिवर्तन विनिमयकरणम् परिवृत्तिरित्यन्वर्थेय सज्ञा । सर्वस्वकार ने भी विनिमय के भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—विनिमयोऽत्र किंचित्त्यक्त्वा कस्यचिदा दानम् ।[1] परिवृत्ति अलकार मे यह बात ध्यातव्य है कि वस्तुओं का यह विनिमय कविकल्पना से मण्डित होकर ही अलकार बना है, अन्यथा तो यह लोकसिद्ध व्यवहार ही माना जाएगा, अलकार नही । जैसे कि 'भीलनी बेर देकर गेहू खरीदती है', यह कथन परिवृत्ति अलकार नहीं है । परिवृत्ति (१) सम (२) न्यून (३) तथा अधिक होने से तीन रूपो मे देखी जा सकती है ।

परिवृत्ति का प्रारम्भ भामह से हुआ और बाद मे सभी प्रमुख आलकारिकों ने इसे स्वीकार किया ।

---

१ रुय्यक, अल० सर्व०, पृ० १६१

विश्वनाथ का परिवृत्ति का लक्षण है—

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ।

—सा० द० १० ८१

परिवृत्ति में जिन दो वस्तुओं का आदान-प्रदान विवक्षित होता है, उनमें औपम्य का भाव अन्तर्हित होने से परिवृत्ति का सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है। उपनिषदों में इसका निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥

—कठ० २ १०

इस मन्त्र में—अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्—अनित्य द्रव्यों से (कर्मों से) नित्य आत्मा को पाने के वर्णन द्वारा न्यून के साथ उत्कृष्ट का विनिमय होने से परिवृत्ति अलंकार है।

१ ७ ३ परिसंख्या

परिसंख्या पूर्वमीमांसा का पारिभाषिक शब्द है, जिसे आलंकारिकों ने एक अलंकार के रूप में ग्रहण किया है। इसके स्वरूप को पूर्वमीमांसा में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥ वामनाचार्य झलकीकर ने परिसंख्या की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए कहा है—परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थकः परेर्वर्जने (८ १ ५) इति पाणिनिस्मृते । संख्या बुद्धिः । तेन वर्जनबुद्धिः परिसंख्येत्यन्वर्थेयं संज्ञा ।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्जन का ज्ञान परिसंख्या है। सर्वस्वकार ने परिसंख्या का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या ।[2] आशय यह है कि परिसंख्या अलंकार में अन्य की व्यावृत्ति होती

१　का० प्र०, पृ० ७०३

२　रसग्रह, अल० सर्व०, पृ० १६३

है। जैसे 'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नम्' में 'संसार में सुदृढ भूषण क्या है, यश न कि रत्न, कहकर रत्न की व्यावृत्ति की गई है। यह व्यावृत्ति या परिवर्जन का भाव ही परिसंख्या का प्राण है। यह व्यावृत्ति कभी प्रश्नपूर्वक होती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में, और कभी बिना प्रश्न के भी। इस प्रकार परिसंख्या में एक वस्तु के कथन से उसके सदृश किसी दूसरी वस्तु की शब्दतः अथवा अर्थतः व्यावृत्ति या व्यवच्छेद दिखाया जाता है। परिसंख्या के मूल में जब श्लेष अलंकार रहता है, उस समय ही इसका सौन्दर्य पूर्णरूप से खिलता है। सुबन्धु, बाणभट्ट आदि गद्यकारों की परिसंख्या तो सहृदयों के गले का हार बनी हुई है।

विश्वनाथ ने परिसंख्या का लक्षण दिया है—

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥

—सा० द० १०.८२

मम्मट ने (१) प्रश्नपूर्विका (२) अप्रश्नपूर्विका (३) प्रतीयमानव्यवच्छेद्या (४) वाच्यव्यवच्छेद्या के रूप में परिसंख्या के ४ भेद स्वीकार किए हैं।

कुछ एक उदाहरण देखिए—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

—कठ० १.१२

स्वर्गलोक में भय, यम और बुढापे का निषेध करके निर्देश किया गया है कि इनकी सत्ता भूलोक में ही है। अतः यहाँ परिसंख्या अलंकार है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—कठ० २.२४

इस मन्त्र में बिना ही प्रश्न के व्यवच्छेद से अर्थसिद्धि हो रही है कि परमात्मा प्रज्ञान—बुद्धिवाद से अगम्य है। उसकी प्राप्ति

सदाचार, शान्ति, निश्चय तथा स्थिर मन से सम्भव है। इस प्रकार यहा अर्थसिद्ध व्यावृत्ति के कारण परिसख्या अलकार है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण पचधा सविवेश।
प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजाना यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

—मु० ३ १ ९

यहा प्रसग से इस अर्थ की व्यावृत्ति होती है कि सूक्ष्म परमात्मा विशुद्ध चित्त के अतिरिक्त अन्य किसी से जानने योग्य नही, अत यहा परिसख्या अलकार है। इसी प्रकार,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम् ॥
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वास्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्म धाम ॥

—मु० ३ २ ३-४

इन मन्त्रो मे प्रश्न तो नही है, परन्तु नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य. न मेधया इत्यादि व्यवच्छेद्य शब्दोक्त होने से परिसख्या अलकार है।

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखम्। इति ॥

—छा० ७ २३ १

यहा नाल्पे सुखमस्ति व्यवच्छेद्य अर्थ है जिसका शब्द से उपादान किया गया है, अत यहा शाब्द व्यपोह रूप परिसख्या अलकार है।

इसी प्रकार,

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष।
वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे ॥

—ऋवे० ४ २२

इस मन्त्र मे विना प्रश्न के व्यवच्छेद्य अर्थ है कि हमारे शत्रुओ की हानि कर, न कि हमारी, अत यहा परिसख्या अलकार है।

एवमेव,

> न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
>
> —श्वे० ६ ८

अपि च,

> न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम् ।
> न कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥
>
> —श्वे० ६ ९

यहा निषेधात्मक रूप से उस देव के पति, लिंग, कारण आदि का निषेध करके लौकिक व्यक्तियों के लिए ही इनकी आवश्यकता सिद्ध की गई है, अत परिसंख्या अलकार है।[1]

१ ७.४. अर्थापत्ति

अर्थापत्ति मीमासासमत एक प्रमाण है, जिसे साहित्यशास्त्र मे अलकार के रूप मे ग्रहण किया गया है। जैसे काव्यलिंग अलकार तर्कशास्त्र के लिंग का साहित्यशास्त्र मे परिष्कृत रूप है, वैसे ही मीमासको की अर्थापत्ति भी कविप्रतिभा से अनुप्राणित होकर साहित्यशास्त्र मे अलकार बन गई है। अर्थापत्ति का तात्पर्य उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना है। जैसे, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते मे देवदत्त की पीनता 'उपपाद्य' है और इसके ज्ञान से रात्रिभोजन की कल्पना 'उपपादक' अर्थापत्ति है।

आलकारिको ने दण्डापूपिकान्याय से अन्य अर्थ की प्रतीति को अर्थापत्ति अलकार माना है। 'चूहा लकडी चबा गया' इससे अनायास समझ लिया गया कि चूहा लकडी पर रखे मालपूए भी साथ साथ खा गया। इसी भांति एक अर्थ से अनायास दूसरे अर्थ की प्रतीति होना अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति मे कही तो प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति अर्थात् अनायास प्रतीति दिखाई देती है, और कही अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है।

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २. २१, १ ५. १-१०

भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने इस अलकार का विवेचन नही किया। यहा तक कि नवीन आचार्य मम्मट ने भी इसे स्वीकार नही किया। उद्योतकार का कथन है कि अर्थापत्ति का अनुमान या अतिशयोक्ति मे अन्तर्भाव हो जाने से इसे पृथक् अलकार मानने की आवश्यकता नही है।

विश्वनाथ ने अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

दण्डापूपिकान्यायार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

—सा० द० १०. ८३

उपनिषदो से इसके उदाहरण इस प्रकार दिए आ सकते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

—ईश० ३

असुर-सम्बन्धी लोक अर्थात् जो जन आस्तिक तथा उपासक नही और कर्त्तव्यविमुख हैं, वे आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान-अन्धकार से आच्छादित हैं। एवम्, मौलिक सत्यो को न मानना, आत्मा, परमात्मा और परलोक को नास्ति कहना नास्तिकभाव है, तथा नास्तिक भाव ही आत्महनन है। उक्त मन्त्र मे यह अर्थापन्न है। अत यहा अर्थापत्ति अलकार है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥

—कठ० १. २८

इस मन्त्र मे को रमेत से यह अर्थापन्न है कि मुक्त आत्मा और विवेकी मनुष्य को असार पदार्थों, अस्थिर सुखो तथा दीर्घायु की इच्छा नही होती। अत यहा अर्थापत्ति अलकार है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥

—कठ० २. २५

यहा क इत्था वेद यत्र स —इस प्रकार के उसे कौन ग्रज्ञ जान सकता है—से ग्रर्थान्तर की सिद्धि होती है कि 'कोई नही', ग्रत यहा ग्रर्थापत्ति ग्रलकार है।

येन रूप रस गन्ध शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥

—कठ० ४ ३

इस मन्त्र म किमत्र परिशिष्यते से ग्रर्थान्तर—ग्रात्मज्ञ की सर्वज्ञता—की ग्रर्थबल से सिद्धि होती है कि ग्रात्मज्ञाता मनुष्य के लिए जानने योग्य शेष कुछ भी नही रहता। इस प्रकार यहा ग्रर्थापत्ति ग्रलकार है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।
ग्रस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते ॥

—कठ० ६ १२

यहा इस ग्रर्थान्तर की प्राप्ति हो रही है कि ग्रात्मोपलब्धि का साधन, मन्-बुद्धि (ग्रास्तिक भाव, श्रद्धा, विश्वास, समाधि) ही है, ग्रन्य नही। ग्रत यहा ग्रर्थापत्ति ग्रलकार है।

१ ७ ८ समुच्चय

इस ग्रलकार का समुच्चय नाम सार्थक है। समुच्चय का ग्रर्थ है—मिलना, इकट्ठे होना। इस ग्रलकार मे बहुत से कारण खलेकपोतन्याय से इकट्ठे होकर विशेष कार्य को सिद्ध करते हैं, ग्रत कारणों के समुच्चय के कारण इसे समुच्चय ग्रलकार कहा जाता है। जैसे खलिहान मे दाना चुगने के लिए सब कबूतर एक साथ उतरते हैं, वैसे ही किसी कार्य की सिद्धि के लिए सभी कारण युगपद् मिल कर ग्राते हैं। यह ग्रलकार दो रूपो मे देखा जाता है—(१) जब किसी कार्य की सिद्धि के लिए एक कारण सक्षम भी हो, फिर भी खलेकपोतन्याय से उसके साधक ग्रौर भी ग्रनेक कारण एक साथ ग्रवतरित हो जाते हैं, (२) जब दो गुणो, दो क्रियाग्रो या गुण ग्रौर क्रिया का एक साथ ही एकत्र उत्पादन ग्रथवा ग्रवस्थान होता है। दोनो ही दशाग्रो मे समुच्चय ग्रलकार होता है।

प्राचीन आलकारिको ने समुच्चय का लक्षण नही किया है। सभवत रुद्रट ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होने इसकी उद्भावना की है। उनके बाद मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो ने इसे स्वीकार किया है। परन्तु उन्होने सद्योग, असद्योग तथा सदसद्योग को इसका आधार मानकर इसके स्वरूप को विशद किया है।

विश्वनाथ के समुच्चय के लक्षण मे ये दोनो रूप अन्तर्हित हैं। उनका लक्षण है—

> समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके।
> खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥
> गुणौ क्रिये वा युगपत्स्याता यद्वा गुणक्रिये।
>
> —सा० द० १० ८४-८५

उपनिषदो मे इसके निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

> तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदा. सर्वांगानि सत्यमायतनम् ॥
>
> —केन० ४ ≡

इस मन्त्र मे एक साथ तप, दम, कर्म, वेद, वेदाग—इन सवको ब्राह्मी उपनिषद् की प्रतिष्ठा अर्थात् विद्याप्राप्ति के साधन गिनाने से समुच्चय अलंकार है।

> काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
> स्फुलिगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥
>
> —मु० १ २ ४

यहा विभिन्न देवियो का एकत्र वर्णन होने से समुच्चय अलकार है।

> तस्माच्च देवा बहुधा सप्रसूता साध्या मनुष्या पशवो वयासि।
> प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्य ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥
>
> —मु० २ १.७

यहा खलेकपोतन्याय से अनेक वस्तुओ का एक साथ वर्णन है, अत यहा समुच्चय अलकार है।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशा । ··· ··· पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त स्पृणोतीति ॥

—तै० १. ७

इस सम्पूर्ण मन्त्र मे भी उपर्युक्त विधि से समुच्चय अलकार है।

· ··· यदेतद् हृदय मनश्चैतत् । सज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति सकल्पः क्रतुरसु कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

—ऐत० ३ २

इस मन्त्र मे आत्मा—चेतनासत्ता—की सब सज्ञाओ अथवा परिचायक चिह्नो का एक साथ परिगणन किया गया है, अत यहा समुच्चय अलकार है।

काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि· पुरुष इति चिन्त्यम् ।
सयोग एषा न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीश सुखदु खहेतो ॥

—श्वे० १.२

यहा ससार के कारण के प्रसग मे काल, स्वभाव, नियति इत्यादि का एकत्र वर्णन है, अत समुच्चय अलकार है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्व वर्णप्रसाद· स्वरसौष्ठव च ।
गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्प योगप्रवृत्ति प्रथमा वदन्ति ॥

—श्वे० २. १३

इस मन्त्र में भी योग में प्रवृत्ति की पहली सिद्धि के परिचायक चिह्नो का एकत्र वर्णन है, अत यहा भी समुच्चय अलकार है।

१.८. तर्कन्यायमूलक अलंकार

वे अलकार, जिनका आधार मीमासा, न्याय आदि शास्त्रो के नियम या लोकप्रसिद्ध न्याय होते हैं, तर्कन्यायमूलक अलकार कहलाते है, जैसे काव्यलिंग इत्यादि। तर्कशास्त्र मे कार्यकारण या हेतुहेतुमद्भाव का उल्लेख होता है। वहा लिग—धूम—से लिगी—वह्नि—का ज्ञान अनुमान माना जाता है। धूम और वह्नि मे लिगलिगीभाव होता है। इसी प्रकार जहा कवि पदार्थो या वाक्यार्थो मे परस्पर कारण-कार्यभाव प्रदर्शित करता है, वहा अलकार का मूल तर्कन्याय होता है। अत काव्यलिंग तर्कन्यायमूलक अलकार है।

१८१. काव्यलिंग

अलकारशास्त्र मे यह नाम तर्कशास्त्र से आया है। न्यायशास्त्र मे लिग उस हेतु या चिह्न को कहते है, जिससे साध्य का अनुमान होता है। न्यायशास्त्र का यह लिंग ही जब काव्य के क्षेत्र मे आता है, तो अपनी शुष्कता को खोकर सरस सुन्दर तथा वैचित्र्ययुक्त हो जाता है। तब यह तर्कशास्त्र का पारिभाषिक लिग न रह कर, काव्याभिमत लिग होकर चमत्कारपूर्ण काव्यलिंग अलकार बन जाता है। वामनाचार्य झलकीकर कहते है—**काव्याभिमत लिंगं काव्यलिंगम्।**[1] न्यायशास्त्र मे लिंगबोधक पद को पचम्यन्त या तृतीयान्त बना कर लिंग को स्पष्ट सूचित कर दिया जाता है, जैसे **पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्** मे **धूम** पचम्यन्त होने के कारण हेतु या लिंग है। परन्तु काव्यलिंग मे ऐसे नही किया जाता, यहा हेतु स्पष्ट न होकर प्रतीयमान रहता है। इसीलिए काव्यलिंग न्याय के लिंग से अधिक चमत्कारकारी तथा सुन्दर होता है।

काव्यलिंग की व्युत्पत्ति है—**लिंग्यते गम्यते अनेन अर्थ इति लिंगं हेतु, काव्यस्य लिंग काव्यलिंगम्।** इस अलकार का स्वरूप काव्यलिंग की अपेक्षा काव्यहेतु नाम से अधिक स्पष्ट होता है। उद्भट ने इसके लिए काव्यहेतु नाम का प्रयोग किया है।

---

१. का० प्र०, पृ० ६७७

भामह, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्यलिंग का उल्लेख नहीं किया है। उद्भट ही ऐसे प्राचीन आचार्य हैं, जिन्होंने इसे सर्वप्रथम स्वीकार किया। बाद में रुय्यक, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

काव्यलिंग अलंकार का बीज है – कार्यकारणभाव। यह कारण कभी पदार्थगत होता है कभी वाक्यार्थगत। अतः काव्यलिंग पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत दो प्रकार का होता है। विश्वनाथ ने भी काव्यलिंग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसके इन दो भेदों की ओर निर्देश किया है—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंग निगद्यते।

—सा० द० १० ६४

उपनिषदों में इस अलंकार के अनेकों उदाहरण हैं। कतिपय इस प्रकार हैं—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

—ईश० ७

यहाँ एकत्वमनुपश्यतः वाक्य मोह, शोक आदि से रहित होने का द्योतक हेतु है, अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

—ईश० ९

यहाँ घोर अन्धकार में प्रवेश का कारण ज्ञानशून्य कर्मकाण्ड रूप अविद्या की उपासना, और उससे भी बढ़ कर अन्धकार में गिरने का हेतु कर्मशून्य कोरी विद्या की आराधना वर्णित होने से काव्यलिंग अलंकार है।

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥

—कठ० १ ८

इस मन्त्र मे घर मे ब्राह्मण का भूखा रहना आशा, प्रतीक्षा, सगत, सच्ची वाणी, इष्ट-आपूर्त, पुत्र, पशु आदि सबके विनाश का कारण कहा गया है, अत काव्यलिंग अलकार है।

इसी प्रकार—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

—कठ० १ ९

इस मन्त्र मे तीन वर मागने मे तीन रात भूखे रहना हेतु कहा गया है, अत काव्यलिंग अलकार है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

—मु० १ २.७

इस मन्त्र मे जरा-मृत्यु की प्राप्ति मे केवल यज्ञ-याजन को मुक्ति (कल्याण) का कारण समझना हेतु कहा गया है, अत काव्यलिंग अलकार है।

इसी प्रकार—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

—मु० १.२.९

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

—मु० १.२ १०

इन मन्त्रो मे भी काव्यलिंग अलकार है।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वा । आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति ॥

—मा० ९

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वा । उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम् । समानश्च भवति । नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद ॥

—मा० १०

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा । मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥

—मा० ११

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत । एवमोङ्कार आत्मैव । संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥

—मा० १२

इन सभी मन्त्रो में निर्दिष्ट प्रकार से नाम की महत्ता के ज्ञान को क्रमश वाञ्छित पदार्थों व मुख्यता की प्राप्ति, ज्ञानविस्तार और समानता, विश्वज्ञान एव भगवान् मे लीनता तथा आत्मा से परमात्मा मे प्रवेश आदि का हेतु कहने से काव्यलिंग अलकार है।

मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानाऽस्ति किंचन ।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

—बृ० ४ ४ १९

इस मन्त्र मे मरण-चक्र मे पड़ रहने का कारण नानात्व मानने से काव्यलिंग अलकार है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेय ध्रुवम् ।
विरज पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापन हि तदिति ॥

—बृ० ४ ४ २०-२१

यहा अधिक शब्दो के अनुध्यान को वाणी के विग्लापन—विशेष रूप से ग्लानि अर्थात् मात्र श्रम उत्पन्न करने का हेतु बतलाया गया है, अत काव्यलिंग अलकार है।

एतज्ज्ञेय नित्यमेवाऽऽत्मसंस्थ नात पर वेदितव्य हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा सर्व प्रोक्त त्रिविध ब्रह्ममेतत् ॥

—श्वे० १ १२

इस मन्त्र मे ब्रह्म के जानने मे उसकी अद्वितीयता—*नात परं वेदितव्य हि किंचित्*—कारण मानी गई है, अत काव्यलिंग अलकार है।

इसी प्रकार निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों में हेतु का निर्देश होने से काव्य-लिंग अलकार है—

> वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात् ।
> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
>
> —श्वे० ३ ८

> सर्वाननशिरोग्रीव सर्वभूतगुहाशय ।
> सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात्सर्वगत शिव ॥
>
> —श्वे० ३ ११

> वेदाहमेतमजर पुराण सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात् ।
> जन्मनिरोध प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥
>
> —श्वे० ३. २१

जन्मनिरोध अर्थात् अजन्मा होने से ही ब्रह्मवादी परमपुरुष को नित्य कहते हैं। यहा अनेक का कारण देकर नित्यता की पुष्टि की गई है, अत काव्यलिंग अलकार है।[1]

१८.२. अनुमान

हेतु द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमान अलकार कहते हैं। ध्यान रहे कि यहा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात् के समान केवल साध्य का ज्ञान इष्ट नहीं है, अपितु वह ज्ञान चमत्कारपूर्ण या कवि-प्रतिभा से मण्डित भी होना चाहिए, अन्यथा वह तार्किको का शुष्क अनुमान ही होगा।

विश्वनाथ ने अनुमान का लक्षण दिया है—

> अनुमान तु विच्छित्या ज्ञान साध्यस्य साधनात् ।

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० १ १७, १.१८, ४ १०-११, ५. १२, ६.६, ६, ११ ; मु० २. २. ८, ३. १. ५-६, ३ १.१०, ३. २. १, बृ० १. ३.१६, २.३.२६, १.४.८, २ ४. ५, श्वे० ४.१७, ४.२०, ६.२, ६.१२-१३

यथा—

> नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
> एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
>
> —श्वे० २ ११

यहां कुहरा, धुआ, सूर्य वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक और चाद की विद्यमानता को ब्रह्म के जानने मे चमत्कारपूर्ण हेतु मानने से अनुमान अलकार है।

इसी प्रकार,

> नील पतगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतव समुद्रा ।
> अनादिमास्त्व विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥
>
> —श्वे० ४ ४

इस मन्त्र मे पदार्थों म दृश्यमान लोहितादि गुणो का किसी मूल गुणी की सिद्धि मे हतु मानने से अनुमान अलकार है। क्योकि, कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते—कारण के गुण कार्य मे आते है, अत इनका कोई कारण भी ऐसा ही होना चाहिए। 'जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ' इस प्रकार अनुमान द्वारा उस परमात्मा की सिद्धि अभिप्रत है। (तुलनीय 'साख्यकारिका'—१४, कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्।)

१. ९. लोकन्यायमूलक अलंकार

१.९.१. उत्तर

उत्तर का अर्थ है—प्रतिवचन। इस अलकार की यह अन्वर्थ सज्ञा है क्योकि इसमे कवि उत्तर का उल्लेख करता है, जिससे प्रश्न का उन्नयन किया जाता है। सर्वस्वकार ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसभाव्यमुत्तर चोत्तरम्।[1] इससे उत्तर अलकार के दो रूप हमारे सम्मुख आते है। (१) एक तो वह अलकार है जहा प्रश्न होने पर अनेक असभाव्य उत्तर हो। सर्वस्वकार इसी भाव को स्पष्ट करते हुए फिर कहते है (१) यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यमानादुत्तरादुन्नीयते तदेकमुत्तरम्, (२) यत्र च प्रश्नपूर्वकसभावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत् ताथन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीते', अतरचारारुक्रमिनबन्धने द्वितीयमुत्तरम्।[2]

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि प्राचीन आचार्यो ने उत्तर का लक्षण नही दिया है। सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इसे आविष्कृत किया। उसने इस नाम के दो स्वतन्त्र अलकार माने हैं, जिन्हे परवर्ती आचार्यो ने उत्तर के दो भेदो के रूप मे समाविष्ट कर लिया। सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने इन्हे दो पृथक् अलकार माना है।

आचार्य विश्वनाथ ने सर्वस्वकार से प्रभावित होकर उत्तर की यह परिभाषा दी है—

> उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि।
> यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्॥
>
> —सा० द० १०. ८२

उपनिषदो में उत्तर के इस प्रकार उदाहरण पाये आते हैं—

> अस्य विस्रसमानस्य शरीरस्थस्य देहिन।
> देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥
>
> —कठ० ५. ४

१. रुय्यक, अल० सर्व०, पृ० २१६

२. वही

—इस शरीर मे रहने वाले आत्मा का, जब वह देह से निकलता है, तब देह मे क्या शेष रहता है ? अर्थात् कुछ भी पीछे नहीं रह जाता।

इस मन्त्र मे प्रश्न से उत्तर की ऊहा हो जाने से उत्तरालकार है।

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतर स आत्मा ? ॥

—ऐत० ३ १ १

इस मन्त्र में भी आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासापूर्ण प्रश्न के उत्तर का उन्नयन होने मे उत्तरालकार है।

इसी प्रकार—

अर्मा का गतिरिति। असौ लोक इति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरिति। न स्वर्गलोकमतिनयेदिति होवाच। स्वर्ग वय लोक सामाभि सस्थापयाम। स्वर्गसस्ताव हि सामेति ॥

—छा० १ ८ ५

यहा भी प्रश्नोत्तर होने से उत्तरालकार है।

तथा

यद वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतर पुन।
मर्त्य स्विन्मृत्युना वृक्ण कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत प्रजायते।
धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सम्भव ॥

यत समूलमावृहेयुर्वृक्ष न पुनराभवेत्।
मर्त्य स्विन्मृत्युना वृक्ण कस्मान्मूलात प्ररोहति ॥

जात एव न जायते को न्वेन जनयेत् पुन।
विज्ञानमानन्द ब्रह्म रातिर्दातु परायण तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥

—वृ० ३ ९ २८ के मन्त्र ४ से ७

इन मन्त्रो मे भी प्रश्ना से उत्तर की ऊहा की प्रक्रिया के कारण उत्तरालकार है।

एवमेव—

> किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा ।
> अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥
>
> —श्वे० १ १

इस मन्त्र में भी ऊहात्मक प्रश्न के होने से उत्तरालंकार है।[१]

१६२ तद्गुण

तद्गुण की व्युत्पत्ति है—तस्योत्कृष्टस्य गुणोऽस्मिन्निति तद्गुणः । तद्गुण को तद्गुण इसलिए कहा जाता है कि इसमें उत्कृष्ट गुण वाली अप्रकृत वस्तु का गुण प्रकृत वस्तु में वर्णित किया जाता है। सर्वस्वकार ने इसके स्वरूप को विशद किया है—यत्र परिमितस्य वस्तुनः समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः।[२] तद्गुण अलंकार में भिन्न भिन्न गुणों को धारण करने वाले दो पदार्थ होते हैं। ये गुण एक पदार्थ में अधिक तथा दूसरे में न्यून होते हैं। दोनों पदार्थ परस्पर समीपवर्ती होते हैं। न्यून गुण वाला पदार्थ अपने गुण का परित्याग करके अधिक गुणवान् पदार्थ के गुणों को ग्रहण कर लेता है। जैसे—पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधराधिनम्[३] में नायिका के नासिका-मौक्तिक ने, जो न्यून गुणवान् है, अधिक गुणवान् अधर की लालिमा को ग्रहण कर लिया है, जिससे वह पद्मराग जैसा बन गया है। अतः यह तद्गुण का उत्तम उदाहरण है—

भामह, दण्डी उद्भट, तथा वामन ने तद्गुण का निर्देश नहीं किया। रुद्रट ने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। उसने इसके दो रूप स्वीकार किए हैं। उनमें से प्रथम रूप परवर्ती आलंकारिकों का सामान्य अलंकार बन गया और उसका दूसरा रूप तद्गुण के रूप में ही स्वीकार किया गया।

विश्वनाथ का तद्गुण का लक्षण है—

> तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।
>
> —सा० द० १० ९२

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —छा० १ ८ ९, बृ० ३ ६.१९-२४, ३.९ २६

२ रुय्यक, अलं० सर्व०, पृ० २१३

३ चन्द्रालोक ५ १०२

कुछ एक उदाहरण देखिए—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—कठ० ६ १४

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥

—कठ० ६ १५

इन मन्त्रों में मर्त्य के द्वारा अपने अनुत्कृष्ट धर्म, मरणशीलता को छोड़कर परमात्मा के उत्कृष्ट गुण, अमृतत्व को ग्रहण करने का वर्णन होने से तद्‌गुण अलंकार है।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ।

—तै० ३ १०

यहाँ भगवान् के गुणों को जानकर मनुष्य का तदनुसार प्रतिष्ठावान्, महान्, मानवान् हो जाने का वर्णन है। अतः उत्कृष्टगुण-ग्रहण का वर्णन होने से इस मन्त्र में भी तद्‌गुण अलंकार है।

इसी प्रकार,

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥

—श्वे० ५ ६

इस मंत्र में कहा गया है कि जो पुरातन देव और ऋषि वेदवेद्य ब्रह्म को जानते थे, वे तद्रूप होकर अमर हो गए। अतः यहाँ भी देव और ऋषियों में अपने धर्म को छोड़कर ब्रह्म के अमरत्वरूप उत्कृष्ट धर्म के ग्रहण का वर्णन होने से तद्‌गुण अलंकार स्पष्ट है।

१.१०. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

१.१० १. भाविक

भाविक शब्द भाव या भावना से निष्पन्न है। जैसे योगियों में भावना=वासना होती है, जिसके बल से वे अतीत तथा अनागत वस्तु को प्रत्यक्ष के समान देखते है, उसी प्रकार कान्तदर्शी कवि मे भी भावना होती है, जिसके बल से वह अप्रत्यक्ष पदार्थो को भी प्रत्यक्षवत् चित्रित करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार भाविक अलकार का मूल भाव अथवा भावना है, और इस अलकार पर योगशास्त्र का प्रभाव है। भाविक की व्युत्पत्ति करते हुए मम्मट कहते है—**भाव कवेरभिप्राय भूतभाविनामर्थानां प्रत्यक्षत्वेन प्रतिपादनेच्छा अस्ति अत्र इति भाविकम्।**[1] प्रतिहारेन्दुराज उद्भट के काव्यालकारसारसंग्रह की अपनी लघुवृत्ति टीका मे भाविक को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—**भाव कवेरभिप्राय यत्र वाचके श्रोतरि वा प्रतिबिम्बित अस्ति** (पृ० ७४)।

निष्कर्ष यह है कि कवि के भूत तथा भावी पदार्थो को देखने की विशेष शक्ति का ठोस परिणाम भाविक अलकार है। कभी तो कवि अतीत की घटनाओं को स्मरण करने मे आनन्द का अनुभव करता हुआ उन्हे पाठक के सामने इस रूप मे प्रस्तुत करता है जैसे वे प्रत्यक्ष घटनाए हो, और कभी वह भविष्य-द्रष्टा योगी के समान भावी घटनाओ का दर्शन करके, उन्हे इस रूप में प्रस्तुत करता है जैसे वे भावी घटनाए न होकर हमारी आखो के सामने प्रत्यक्ष सी घट रही हो। वस्तुत भाविक अलकार का वैशिष्ट्य इस बात मे है कि कवि भूत या भविष्य को अपनी कल्पनाशक्ति से इस रूप मे प्रस्तुत करे कि सहृदय को वह प्रत्यक्ष के समान दिखाई दे। भूत और भविष्य का यह प्रत्यक्षायमाण वर्णन ही इस अलकार का प्राण है।

भाविक अलंकार के विषय मे यह बात ध्यातव्य है कि इसमे न केवल भूत और भविष्य को देखने की भावना का होना आवश्यक है,

---

१. का० प्र०, पृ० ६७६

अपितु भावना के साथ उसके वर्णन की विशदता भी उतनी ही आवश्यक है। यदि भावना होने पर उसकी विशद वर्णना न हो सकी, तो भाविक का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही धूमिल हो जाता है। इस प्रकार भाविक मे वाणी का प्रसाद या निर्मलता अत्यन्त अपेक्षित है। इसमे भावना तथा वर्णना दोनो का सतुलित समन्वय होना चाहिए। अत एव भामह, तथा दण्डी ने भाविक को अलकार की अपेक्षा काव्य गुण के रूप मे ग्रहण किया है। दण्डी कहते है—तद् भाविकमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम्।[1] सर्वप्रथम उद्भट ने इसे अलकार के रूप मे प्रतिष्ठित किया। वामन तथा रुद्रट ने इसे स्वीकार नही किया है। भोज, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि मूर्धन्य आलकारिको ने इसे अलकार के रूप मे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने भाविक का लक्षण दिया है—

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यत।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्व तद्भाविकमुदाहृतम्॥

—सा० द० १० ९३

यथा—

यदिद किंच जगत्सर्व प्राण एजति नि:सृतम्।
महद्भय वज्रमुद्यत य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

—कठ० ६ २

इस मन्त्र मे समस्त जागतिक पदार्थों का प्राणस्वरूप ब्रह्म मे क्रियावान् होने का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से भाविक अलकार है।

अत्रैष देव: स्वप्ने महिमानमनुभवति यद्दृष्ट दृष्टमनुपश्यति। श्रुत श्रुतमेवार्थमनुश‍ृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूत पुन पुन प्रत्यनुभवति। दृष्ट चादृष्ट च श्रुत चाश्रुत चानुभूत चाननुभूत च सच्चासच्च सर्व पश्यति। सर्व पश्यति॥

—प्रश्न० ४ ५

इस मन्त्र मे कहा गया है कि आत्मा शुद्धावस्था मे देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किए, बिना अनुभव किए तथा सत् और

---

१. काव्यादर्श, २, ३६४

असत् सभी प्रकार के पदार्थों को सर्वरूप होकर देखता है। इस प्रकार आत्मा की अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षवत् वर्णन करने से यहा भाविक अलकार है।

ओमित्येतदक्षरमिद सर्वम । तस्योपव्याख्यानम् । भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोड्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीत तदप्योकार एव ॥

—मा० १

यहा भूत, भवत्, भविष्यत् और विश्व शरीर भगवान् का शरीरी रूप से वर्णन किया गया है। इस अद्भुत का प्रत्यक्षवत् वर्णन करने से यहा भाविक अलकार है।

पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

—श्वे० ३.१५

यहा भूत और भविष्यत् जिया के आधार तथा दृश्यमान प्राणि-जगत् और अदृश्य मोक्ष के स्वामी पुरुष (भगवान्) का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से भाविक अलकार है।

६.१०२ उदात्त

उद्+आ+√दा से क्त प्रत्यय के योग से उदात्त शब्द निष्पन्न होता है। उदात्त का शब्दार्थ है—गृहीत या उन्नत। उदात्त यह नाम सार्थक है, क्योकि यहा किसी वस्तु का प्रभूत वर्णन करके उसका उत्कर्ष या अतिशय स्थापित किया जाता है। इस अलकार मे कोई पदार्थ उन्नत या उत्कृष्ट किया जाता है, अत इसे उदात्त कहते हैं। यदि महान् व्यक्तियो का चरित प्रस्तुत वस्तु का अग हो, तब भी उदात्त अलकार होता है। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि उदात्त अलकार मे किसी पदार्थ का उत्कर्ष या उच्चता अथवा उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शित की जाती है।

उदात्त के मूल मे अतिशय का विचार काम करता है। कवि, जो अपने काव्य जगत् का प्रजापति होता है, पदार्थो के अतिशय वर्णन से सहृदय को आह्लादित करता है। उदात्त मे भी वह महान् पुरुषो, धन-ऐश्वर्य, पशु-पक्षियो, गुणो तथा तप आदि किसी भी उत्कृष्ट वस्तु

का अतिशय वर्णन करके उसके महत्त्व को प्रतिपादित करता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि उत्कृष्ट वस्तु के अतिशय वर्णन मे ही उदात्त अलकार होता है, निकृष्ट वस्तु जैसे मदिरा, द्यूत आदि के अतिशय स्थापन मे उदात्त नही माना जाएगा।

उदात्त मे अतिशयता के वर्णन की प्रवृत्ति होने के कारण हेमचन्द्र प्रभृति कुछ आलकारिक इसे स्वतन्त्र अलकार स्वीकार नही करते। वे इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति मे करते हैं। पर भामह तथा दण्डी ने भी इसे स्वीकार किया है। उद्भट ने भी इसे माना है। किन्तु वामन और रुद्रट ने इसका उल्लेख नही किया। सभवत इसलिए कि वे भी इसे अतिशयोक्ति का ही रूप समझते हो। रुय्यक, विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित ने इसे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है—

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्यांग महतां चरितं भवेत् ॥

—सा० द० १०. ९४

यथा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद ॥

—कठ० २ १४

इस मन्त्र मे सर्वातीतवस्तु का लोकातिशयपूर्ण वर्णन होने के कारण विरोधमूलक उदात्त अलकार है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥

—कठ० ५. १५

यहाँ अन्तिम दो पदो मे सर्वप्रकाशधाम परमेश्वर की लोकोत्तर सम्पत्ति का अतिशय वर्णन होने से उदात्त अलंकार है।

> यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
> तदेतदक्षर ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मन ।
> तदेतत्सत्य तदमृत तद्वेद्धव्य सोम्य विद्धि ॥
>
> —मु० २ २ २

यहा ब्रह्म की उदात्तता का वर्णन होने से उदात्त अलकार है।

य पृथिव्या तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद । * ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥

—बृ० ३ ७ ३-२३

इस सम्पूर्ण प्रसग मे आत्मा के लोकातीत सामर्थ्य का वर्णन हुआ है अत यहा उदात्त अलकार है।

> य एको जालवानीशत ईशनीभि सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभि ।
> य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
>
> —श्वे० ३ १

यहा ब्रह्म की लोकोत्तर शक्तियो का वर्णन होने से उदात्त अलकार है।

> यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
> हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु ॥
>
> —श्वे० ३ ४

इस मन्त्र मे भी नियमवान् भगवान की अलौकिक शक्ति का वर्णन होने से उदात्त अलकार है।[1]

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —श्वे० ४.४, ४ १२

१.११. उभयालंकार

उभयालकार वे अलकार है जो शब्द पर भी आश्रित रहते है और अर्थ पर भी । उभयालकार मे कुछ शब्द परिवर्तित किए जा सकते है और कुछ शब्द परिवर्तन नही किए जा सकते, जैसे पुनरुक्तवदाभासादि । शब्द तथा अर्थ दोनो का अलकार होने से पुनरुक्तवदाभास उभयालकार है । श्लेष भी उभयालकार है, क्योकि इसका आश्रय शब्द भी है और अर्थ भी । जब यह शब्द पर अश्रित होता है तब शब्दालकार तथा जब अर्थ पर अश्रित होता है तब अर्थालकार होता है । इसके अतिरिक्त ससृष्टि, सकर को भी उभयालकार कहा जा सकता है क्योकि इनमे जब शब्दालकार तथा अर्थालकार का सम्मिश्रण होता है तब शब्द का भी सौन्दर्य रहता है और अर्थ का भी । दोनो का अलकार होने से ससृष्टि और सकर उभयालकार है ।

कौन शब्दालकार है, कौन अर्थालकार तथा कौन उभयालकार, इस विषय पर साहित्यशास्त्रियो मे मतभेद है । मम्मट तथा उनके अनुयायी शब्द के अन्वय व्यतिरेक भाव को शब्दालकार तथा अर्थालकार का भेदक मानते हैं । परन्तु तिलक तथा रुय्यक आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर दोनो मे भेद करते हैं । अन्वय व्यतिरेक का अर्थ है—तत्सत्त्वे तत्सत्ता, तदभावे तदभाव । अत यह अलकार शब्द का है या अर्थ का इसका निर्णय अन्वयव्यतिरेक भाव से होता है । यदि शब्दविशेष के रहने पर अलकार है और उस विशेष शब्द के हट जाने पर अलकार नही रहता, तो वह शब्दालकार है । इसी प्रकार यदि विशेष अर्थ के रहने पर अलकार है और उस अर्थ के न रहने पर अलकार नही रहता है तो वह अर्थालकार है । जो अलकार शब्द तथा अर्थ दोनो के रहने पर रहता है, वह उभयालकार है ।

परन्तु, रुय्यक के मत मे जो अलकार शब्द पर आश्रित है वह शब्दालकार और जो अर्थ पर आश्रित है वह अर्थालकार है । जैसे कुण्डल कर्ण पर आश्रित होने से कर्णालकार तथा कटक हस्त पर आश्रित होने से हस्तालकार कहलाता है, उसी न्याय से शब्द पर आश्रित अलकार

शब्दालकार, अर्थ पर आश्रित अर्थालिकार तथा दोनो पर आश्रित उभयालकार है। जैसे रुय्यक कहते हैं—

तत्र शब्दालकारा यमकादय । अर्थालकारा उपमादय । उभयालकारा लाटानुप्रासादय । ससृष्टिसकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्तदरुपत्वात । लोकवदाश्रया श्रयिभावश्च तत्तदलकारनिबन्धनम् ।[1]

१ ११ १. ससृष्टि

ससृष्टि का अर्थ है—सश्लेप=ससर्ग (जुडना)। दो या दो से अधिक अलकारो का परस्पर सश्लेप ही ससृष्टि है। जैसे स्वर्ण और मणि अपना अलग अलग सौन्दर्य रखते हैं परन्तु जब वे परस्पर सश्लिष्ट होते है तब विलक्षण ही सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। वैसे ही शब्दालकार और अर्थालिकार अपना अलग अलग सौन्दर्य तो रखते ही है, परन्तु उनके परस्पर सश्लेप मे भी एक विचित्र सौन्दर्य झलकता है। अत अलकारो के इस सश्लेष को आलकारिको ने स्वतन्त्र अलकार स्वीकार किया है। ससृष्टि मे क्योकि अनेक अलकार सश्लिष्ट होकर विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं अत ससृष्टि को पृथक् अलकार मानना युक्तिसगत ही है। जैसा कि सर्वस्वकार ने स्पष्ट किया है—तत्र यथा बाह्यालकाराणा सौवर्णमणिमयप्रभृतीना पृथक चारुत्वहेतुत्वेऽपि सघटनाकृत चारुत्वान्तर जायते, तद्वत प्रकृतालकाराणामपि सयोजने चारुत्वान्तर-मुपलभ्यते।[2]

अलकारो का यह सश्लेप दो रूप मे होता है—(१) सयोग-न्याय से और (२) समवाय न्याय से। तिल और तण्डुल का सश्लेप सयोग न्याय से है, क्योकि तिल और तण्डुल दोनो का सश्लेप होने पर भी दोनो की स्थिति भिन्न-भिन्न रहती है। नीर तथा क्षीर का सश्लेप समवाय न्याय से है, क्योकि नीर और क्षीर का सश्लेप होने पर दोनो पदार्थों की स्वतन्त्र स्थिति नही रहती। दोनो मिलकर एकाकार हो

---

१ अल० सव०, पृ० २५७

२ वही पृ० २४१

जाते हैं। अत जब दो या दो से अधिक अलकार तिलतण्डुल के समान सश्लिष्ट होते हैं तब ससृष्टि अलकार और जब ये नीर-क्षीरन्याय से सश्लिष्ट होते हैं तब सकर अलकार होता है।

यह ससृष्टि तीन रूपो मे देखी जाती है—(१) शब्दालकारो की ससृष्टि (२) अर्थालकारो की ससृष्टि (३) शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनो की ससृष्टि। जैसाकि सर्वस्वकार कहते हैं—तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती ससृष्टिस्त्रिधा। शब्दालकारगतत्वेन, अर्थालकारगतत्वेन, उभयालकारगतत्वेन च।[1]

भामह ने भी ससृष्टि को स्वीकार किया है। उनकी ससृष्टि की परिभाषा इतनी विस्तृत है कि उसमे सकर अलकार का भी समावेश हो जाता है। दण्डी की ससृष्टि के दो भेद है, जिनमे एक भेद सकर से मिलता है और दूसरा ससृष्टि से। उद्भट ने इन दोनो को एक दूसरे से भिन्न मानकर, ससृष्टि और सकर रूप से इन्हे दो भिन्न भिन्न अलकार स्वीकार किया है। बाद मे मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने ससृष्टि और सकर को भिन्न भिन्न ही अलकार स्वीकार किया है।

विश्वनाथ का ससृष्टि लक्षण है—

यद्येत एवालकारा परस्परविमिश्रिता।
तदा पृथगलकारौ ससृष्टि सकरस्तथा॥
मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थिति ससृष्टिरुच्यते॥

—सा० द० १०, ९८

यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजा सृजमानां सरूपा।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य॥

—श्वे० ४ ५

यहा सकार, जकार की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास तथा अज और प्रकृति के दो अर्थ होने से श्लेष अलकार है, अत दो शब्दालकारो की ससृष्टि है।

---

१ रय्यक, अलकारसर्वस्व, पृ० २४४

नाह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २ २

इस मन्त्र की प्रथम पक्ति मे वेद वेद अश मे निरर्थक और सार्थक पदों की आवृत्ति होने के कारण यमकालकार है। तथा द्वितीय पक्ति मे न तद्वेद तद्वेद भाग मे विरोधाभास अलकार है। अत यहा शब्दालकार और अर्थालकार की ससृष्टि है।

इसी प्रकार,

यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स ।

अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम् ॥

—केन० २ ३

इस मन्त्र मे भी अ विज्ञात विज्ञातम, अ विजानता विजानताम् इत्यादि मे यमक तथा विरोधाभास अलकारो के सद्भाव से ससृष्टि अलकार है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु ।

एष पृथिवी रयिर्देव सदसच्चामृत च यत् ॥

—प्रश्न० २ ५

इस मन्त्र के पूर्वभाग मे प्राण पर अग्नि का आरोप करके उसे तपनरूप क्रिया मे परिणत किया गया है, अत परिणामालकार है, तथा उत्तरभाग मे एक ही देव को विषय भेद से अनेक रूपो मे वर्णित किया गया है। अत यहा उल्लेख अलकार की स्पष्ट प्रतीत होने से परिणाम तथा उल्लेख अलकारो की ससृष्टि है।

प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत ॥

—मु० २ २ ४

इस मन्त्र मे प्रणव इत्यादि पर धनुरादि के आरोप के कारण सागरूपक अलकार तथा शरवत् मे इवार्थ मे वत् प्रत्यय होने से आर्थी उपमा अलकार होने से ससृष्टि अलकार है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

इस मन्त्र के तृतीय पाद में विरोधाभास तथा चतुर्थ पाद में रूपकातिशयोक्ति होने से संसृष्टि अलंकार है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

—मा० ७

यहाँ नान्तःप्रज्ञम् से नाप्रज्ञम् तक के अंश में प्रतिषेधालंकार तथा आगे अदृष्टमव्यवहार्यम् इत्यादि में सार्थक विशेषणों के कारण परिकरालंकार होने से संसृष्टि अलंकार है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥

—मा० १२

इस मन्त्र में परिकर तथा रूपक अलंकारों की स्थिति होने से संसृष्टि अलंकार है।

'' यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥

—तै० ३ १० २

इस मन्त्र में उल्लेख तथा तद्गुण अलंकारों की संसृष्टि है।

... स एष पांक्तो यज्ञः पांक्तः पशुः पांक्तः पुरुषः पांक्तमिदं सर्वं यदिदं किंच तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥

—बृ० १ ४ १७

इस मन्त्र में रूपक तथा काव्यलिंग अलंकारों की संसृष्टि है।

> नीहारधूमार्कानलानिलाना खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
> एतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
> —श्वे० २ ११

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो म अनेक वस्तुग्रा का एकत्र वर्णन होन से समुच्चय अलकार तथा ब्रह्म की अभिव्यक्ति में इन्ही वस्तुओ को कारण मानने स अनुमान अलकार की स्पष्ट प्रतीति हो रही है, अत यहा ससृष्टि अलकार है।

> यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत ।
> अज ध्रुव सवतत्त्वैविशुद्ध ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥
> —श्वे० २ १५

यहा द्वितीय पाद के दीपोपमेनेह अश मे उपमालकार तथा तृतीय पाद मे सार्थक विशेषणो के कारण परिकर अलकार है। दोनो अलकारो की स्पष्ट स्थिति होने से ससृष्टि अलकार है।

> एष ह देव प्रदिशोऽनु सर्वा पूर्वो ह जात स उ गर्भे अन्त ।
> स एव जात स जनिष्यमाण प्रत्यड्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥
> —श्वे० २ १६

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो मे एक ही देव को अनेकत्र सत्ता के वर्णन से विशेषालकार तथा तृतीय पाद मे एक ही देव को जात और जनिष्यमाण मानने से विरोधाभास अलकार की ससृष्टि है।

> न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
> हृदा हृदिस्थ मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
> —श्वे० ४ २०

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो मे आत्मा को नेत्रादि द्वारा ग्रहण करने योग्य न मानने से प्रतिषेध अलकार तथा अन्तिम दो पादो मे अमृतत्व मे आत्मज्ञान को हेतु मानने के कारण काव्यलिग अलकार की ससृष्टि है।

> अगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप सकल्पाहकारसमन्वितो य ।
> बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट ॥
> —श्वे० ५ ८

यहा प्रथम दो पादो मे उपमालकार है तथा अन्तिम पाद के ह्यपरोऽपि अश मे अपि शब्द सम्भावना अर्थ मे होने से इव अर्थ मे परिणत हो गया है, अत उत्प्रेक्षा अलकार है। इस प्रकार यहा उपमा और उत्प्रेक्षा की ससृष्टि है।

> एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
> कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
>
> —श्वे० ६ ११

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो मे एक ही देव अनेकत्र विद्यमान होने के कारण विशेष अलकार तथा देव का, विषय भेद से, अनेक रूपो मे वर्णन होने से उल्लेख अलकार की ससृष्टि है।

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥
>
> —श्वे० ६ १४

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो म प्रतिषेध अलकार तथा अन्तिम दो पादो मे पर्यायोक्त अलकार होने से ससृष्टि अलकार है।

> एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सनिविष्ट ।
> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
>
> —श्वे० ६ १५

यहा प्रथम दो पादो मे एक ही हस के क्रमश विभिन्न स्थानो मे वर्णित होने से पर्याय अलकार तथा अन्तिम दो पादो मे काव्यलिंग होने से दोनो की ससृष्टि है।

१.११ २ सकर

दो या दो से अधिक अलकारो का दूध और पानी के समान सम्मिश्रण सकर अलकार है। इसमे अलकारो का सम्मिश्रण इस रूप मे हुआ करता है कि एक अलकार के हटने पर दूसरे का भी लोप हो जाता है। सकर मे दोनो अलकार नीर-क्षीर के समान सश्लिष्ट होकर एक दूसरे से पृथक् नही हो सकते, जबकि ससृष्टि मे वे तिलतण्डुलन्याय से मिश्रित होते हैं तथा एक दूसरे से अलग हो सकते हैं। ससृष्टि मे दो

या दो से अधिक अलकार पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट भासित होते है। परन्तु सकर मे दोनो मिले हुए रहते हैं। यही सकर का ससृष्टि से भेदक तत्त्व है।

विश्वनाथ ने सकर का लक्षण दिया है—

अगांगित्वेऽलकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सदिग्धत्वे च भवति सकरस्त्रिविध पुन ॥
—सा० द० १० ९९

यहा विश्वनाथ ने सकर का लक्षण देते हुए उसके तीन भेदो का निर्देश किया है—(१) अगागिभावरूप सकर (२) एकाश्रयानुप्रवेशरूप सकर (३) सदिग्धरूप सकर। इससे पूर्व सर्वस्वकार ने सकर के तीन भेदो का निर्देश इस प्रकार किया था—क्षीरनीरन्यायेन तु सकर। मिश्रत्वम् इत्येव। अनुत्कटभेदत्वमुत्कटभेदत्व च मिश्रत्वम्। तत्र मिश्रत्वमगागिभावेन, सशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् सकर त्रिभेदमुत्थापयति।[1]

सन्देह-सकर—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेज ।
यत्ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि ॥
—ईश० १६

इस मन्त्र मे आद्योपान्त साभिप्राय विशेषणो की स्थिति के कारण परिकर अलकार की प्रतीति हो रही है, पर साथ ही विषय-भेद के कारण एक ही ऋषि द्वारा एक ही देव (सूर्य) को अनेक रूपो मे स्वीकार करने से उल्लेख अलकार की भी प्रतीति हो रही है। न तो निश्चित रूप से यहा किसी एक अलकार की प्रतीति है, न ही स्पष्ट रूप से दो अलकारो की, अत यहा सन्देहसकर अलकार माना जा सकता है।

---

१ रुय्यक, अल० सर्व०, पृ० २४८।

२

गुण-रीति-पाक

२.१. गुण

वेद और उपनिषद् हमारे साहित्य के पूर्वरूप हैं। उनमें काव्य के अन्य तत्त्वों के समान गुणों की भी विद्यमानता दिखाई देती है, जो इनमें शब्दार्थधर्म के रूप में मिलते हैं। वेद और उपनिषदों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आरम्भिक रूप में गुण तीन ही रहे होंगे—(१) विकट पदयोजना (२) कोमल पदयोजना (३) झटित्यर्थप्रतिपादक पदयोजना। इन्हें बाद में क्रमशः ओज, माधुर्य और प्रसाद नाम दे दिए गए। इन्हें भरत, दण्डी, भोज आदि परवर्ती आचार्यों ने बढ़ा कर ३ से २४ तक पहुँचा दिया।

जब ऋग्वेद का ऋषि—

> सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
> अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
>
> —ऋ० १० ७१ २

यह कहता है, तब वह तितउना पुनन्त से दोषपरिहार तथा भद्रैषां लक्ष्मी निहिताधिवाचि से गुण के महत्त्व को प्रोद्घाटित करता है। इसी प्रकार उपनिषद् का ऋषि भी बन्ध में शैथिल्य न आने, अर्थ के अनुरूप अक्षरों के समवेत उच्चारण, उल्बणत्व, श्लक्ष्णता आदि वाणी के सौन्दर्य के वर्धक गुणों से परिचित है। हम देखते हैं कि उसकी पदयोजना कभी सौम्य, सुन्दर, समता से विभूषित मन्थर गति में बहने वाली नदी के समान प्रवाहित होती है, तो कभी उत्कट, सश्लिष्ट, गुम्फित तथा गाढ होकर विकटता को धारण करती है। कभी ऋषि की वाणी में अर्थवैमल्य के उपपादक पदों का प्रयोग मिलता है जिससे मन्त्र पढ़ते ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति होती है। उपनिषद् के ऋषि का यह काव्यसौन्दर्य स्थान स्थान पर प्रकट होता है। प्रतीत होता है कि वेद तथा उपनिषद्

परवर्ती कवियो के लिए मार्ग का निर्माण करते रहे और उन्होंने इनसे प्रेरणा प्राप्त करके काव्य के गुणो का लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थो मे विवेचन एव वर्णन किया।

काव्य के गुणो तथा रीतियो का अकुर तो उसी समय प्रस्फुटित हो गया होगा जब ऋग्वेद के ऋषि ने गान प्रारम्भ किया तथा उसकी ऋचाओ मे अक्षरो व पदो के उच्चारण-प्रयत्न की एकता, ध्वनिसाम्य, मृदु-अल्पप्राण अक्षरो का बहुल प्रयोग आदि विशेषताए उभरी।

उपनिषद् का ऋषि भी वाणी के गुण-दोष से परिचित है। वह ऋचाओ के गान को मृदु, श्लक्ष्ण, बलवद् तथा अपध्वान्त संज्ञाए देता है।[1] इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि सुन्दरता, नीरसता, अस्पष्टता आदि उक्ति के गुण-दोषो से परिचित थे। इन्हे ही परवर्ती आचार्यों ने काव्यशास्त्र के ग्रन्थ लिखते समय गुण-दोष के रूप मे प्रतिपादित किया।

महाभारत तथा रामायण मे भी स्थान-स्थान पर वाणी तथा वाक्य की विशेषताओ का उल्लेख हुआ है, जिसमे ऋग्वेद से प्रारब्ध परम्परा को विकसित किया। वाल्मीकि तथा व्यास अपने पात्रो के वार्तालाप द्वारा वाक्यो की आनुपूर्वी, तीक्ष्णता, मृदुता, हृदयग्राहिता आदि वाणी के गुणो का निर्देश करते हैं। कर्ण से कृष्ण ने जब वार्तालाप किया तो उनकी वाणी मे उपर्युक्त गुण थे।[2] हनुमान् ने भी जब

---

१ विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्त प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्ण वायो श्लक्ष्ण बलवदिन्द्रस्य क्रौंच बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुण त्वेव वर्जयेत् ॥ (छा० २ २२. १)

२. आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥
हृदयग्रहणीयानि राधेय मधुसूदनः।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥
(महाभारत, उद्योगपर्व, १४०, ४-५)

राम से वार्तालाप किया तो उनकी वाणी मे भी श्लक्ष्णता, असंदिग्धता, सुमनोज्ञता, अल्पसमासता आदि गुण थे।[1]

गिरनार के रुद्रदामन् के शिलालेख मे भी वाणी के गुणो—स्फुटता, लघुता, वैचित्र्य, मधुरता, उदारता—का उल्लेख है। बाद मे कालिदास के समय मे तो गुणो का प्रचुर प्रयोग होने लगा और उनका आगे चलकर काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रौढ विवेचन भी प्रारम्भ हुआ।

कुछ भी हो यह बात ध्यातव्य है कि जिन गुणो का विवेचन विस्तार के साथ सस्कृत काव्यशास्त्री अपने लक्षणग्रन्थो मे करते हैं, उनके मूल भी उपनिषदो में ढूंढे जा सकते है। यहा हम उन सभी गुणो का अन्वेषण तो उपस्थित नही कर सकते, क्योंकि परवर्ती आचार्यों के बहुत से गुण तो केवल सख्या की दृष्टि से ही अधिक हैं और उनका एक दूसरे मे समाहार हो जाता है। पर मूलरूप से जिनमें स्पष्ट भेद किया जा सकता है वे माधुर्य, ओज तथा प्रसाद ये तीन ही गुण रह जाते है। इसीलिए रस और ध्वनिवादी आचार्यों ने भी यद्यपि गुणो को रस का धर्म कहा है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्होने उनके तीन ही रूप स्वीकार किए हैं। प्राचीनो के कुछ एक गुण तो दोष का अभावमात्र प्रतीत होते हैं, न कि गुण। कुछ एक एक-दूसरे से इतने मिलते है कि उनमें परस्पर भेद करना कठिन हो जाता है, और कुछ इन तीनो गुणो मे ही अन्तर्भूत हो जाते है। अत यहा माधुर्य, ओज और प्रसाद इन

---

१ ततश्च हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च॥
उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ॥

(वा० रा०, किष्किन्धाकाण्ड, ३. १-२)

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि।

(वा० रा०, किष्किन्धाकाण्ड, ३ ३१-३३)

सर्व-स्वीकृत तथा पूर्णत प्रतिष्ठित गुणो के आधार पर ही उपनिषदो मे विद्यमान गुणो के सौन्दर्य को प्रोद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

वैदिक साहित्य की कोमल वर्ण-योजना माधुर्यगुण, विकटवर्ण-योजना ओजोगुण तथा पदो की तुरन्त अर्थप्रत्यायकता प्रसादगुण के रूप मे अभिहित हुई। यहा उन्ही के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

२ १.१. माधुर्यगुण

विश्वनाथ ने माधुर्य के व्यंजक वर्णो तथा वृत्तियो का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

> मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान् विना ।
> रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥
> अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

—सा० द० ८. ३

अर्थात् ट, ठ, ड, ढ से भिन्न वर्ण, अग्र भाग मे वर्गों के अन्तिम वर्णो—ञ, म, ङ, ण, न से युक्त होने पर माधुर्य के व्यजक होते हैं। र और ण भी माधुर्य के व्यजक वर्ण हैं। एवम् अवृत्ति—समासरहित अथवा अल्पवृत्ति—छोटे समासो वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है।

उपनिषदो मे प्राप्त माधुर्य गुण के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

> तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

—ईश० ५

> नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
> यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २. २

> महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।

—कठ० २. २२

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥

—प्र० २. ११

या च मनसि सतता शिवा तां कुरु मोत्क्रमीः ॥

—प्र० २ १२

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मु० १ २ ४

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

—मु० ३ २. २

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।

—मा० ५

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इद सर्वमसृजत ।

—तै० २. ६

ते वा एते रसानां रसाः । वेदा हि रसाः । तेषामेते रसाः । तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि । वेदा ह्यमृताः । तेषामेतान्यमृतानि ।

—छा० ३. ५ ४

यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥

—छा० ७ २३ १

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोकाः देवा अदेवा वेदा अवेदाः । ··· ···

—बृ० ४ ३. २२

। नैन पाप्मा तरति। सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति। सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति।
। सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि। मां चापि सह दास्यायेति।।

—बृ० ४ ४ २३

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—श्वे० ३ ८

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

—श्वे० ३ १८

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।[1]

—श्वे० ६ ७

२१२ ओजोगुण

विश्वनाथ ने ओज के व्यंजक वर्णों तथा वृत्तियों का इस प्रकार विश्लेषण किया है—

> वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ।
> उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह॥
> शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः।
> तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी॥

—सा० द० ८ ५ ६

वर्ग के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर, और तीसरे अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का चौथा अक्षर, तथा

---

[1] अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २ ३ २ २१, ४४, ६ ६, मु० १. १. ८, ३ २ ३, ३ २ ४ तै० १ ११ २ १, छा० २ १. ३, ३ ६ ४, ३ ११ २, ४ ६ ४, ४ ४ २४ ४ १४ ३ ८ २ १६, ८ ६ ४, बृ० ४ ४ २५, श्वे० २ १७, ३ २१

ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से युक्त अक्षर एवं ट, ठ, ड, ढ, श और ष ये सब ओज के व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार लम्बे समास और उद्धत रचना ओज का व्यंजन करती है।

उपनिषदों में ओजोगुण की छटा निम्न मन्त्रों में द्रष्टव्य है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—ईश० ८

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केन० १. २

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

—कठ० ३ १३

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ० ४ १

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

—कठ० ६ १७

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

—प्रश्न० ५ ॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।

—मु० १ १ ६

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।

—मु० १. २. ३

नान्त प्रज्ञ न बहि प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यम-ग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेय. ॥

—मा० ७

अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम ।

—तै० १ ३

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत । तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम् । स यद्धैनच्छ्रोत्रेणा-ग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ।

—ऐत० १. ३ ६

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्य कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसभवन्ति । अर्चिषोऽह । अह्न आपूर्यमाणपक्षम । आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासास्तान् ।

—छा० ४ १५ ५

यदा व निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति । निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति । निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥

—छा० ७ २० १

सा वा एषा देवतैतासा देवताना पाप्मान मृत्युमपहत्य यत्रासा दिशामन्तस्तद्गमयाचकार । तदासा पाप्मनो विन्यदधात् । तस्मान्न जनमिया-न्नान्तमियान्नेत्पाप्मान मृत्युमन्ववायानीति ॥

—बृ० १ ३ १०

इद वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषि पश्यन्नवोचत्—

आथर्वणायाश्विनौ दधीचेऽश्व्य शिरः प्रत्यैरयतम् ।

स वा मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्र यद्दस्रावपि कक्ष्य वामिति ॥

—बृ० २ ५ १७

तमेकनेमि त्रिवृत षोडशान्त शतार्धार विंशतिप्रत्यराभि ।

अष्टकं षड्भिर्विश्वरूपैकपाश त्रिमार्गभेद द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

—श्वे० १. ४

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥[1]

—श्वे० ५ ११

२ १ ३ प्रसादगुण

विश्वनाथ ने प्रसाद के व्यंजक वर्णों तथा रचना का इस प्रकार विवेचन किया है—

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः॥

—सा० द० ८ ८

यह प्रसाद गुण समस्त रसों और सम्पूर्ण रचनाओं में रह सकता है। सुनते ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाए ऐसे सरल और सुबोध पद प्रसाद के व्यंजक होते हैं। इसके उपनिषदों में प्राप्त कतिपय उदाहरण देखिए—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

—ईश० १

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

—ईश० ७

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

—केन० १ ७

---

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —ईश० ३ १८ कठ० १ १ ८ ४ ८, ५ २, प्रश्न० २ ३, मां० १२, मु० १ ३ ३ ५ १ ३ ७ १०, २ ३ ३ ४ तै० २ ७ छा० १ ६ ५, १ १० ६ १ ११ ३ २ ६ ६, २ १२ २ २ २२.१ २ २३ २ २ २३ ३, २ २४ ३, २ २४ ७, २ २४ ११, ३ १२ ७ ३ १४ ३, ४ ६ ४ ५ १० १ २ ५ १८ २ ५ १६.२, ६ २.१, ६.११ १, ७ ११ १, ७ १५ ३, ८ ८ ५, बृ० १ ३ २४, २ २ ३, ३ ७ २३, ३ ८ ८ ४ ३ ३१, ६ ४ ५, श्वे० ३ ६, ३ १३

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

—कठ० ३ ३

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

—कठ० ५ ९

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

—कठ० ५ ११

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । भिद्येते तासां नामरूपे । समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । भिद्येते चासां नामरूपे । पुरुष इत्येवं प्रोच्यते । स एषोऽकलोऽमृतो भवति ।

—प्रश्न० ६ ५

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मु० २ २ ४

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मु० ३ २. ८

अन्नाद् भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते ।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥

—तै० २. २

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः । तस्योपव्याख्यानम् । असदेवेदमग्र आसीत् । तत् सदासीत् । तत्समभवत् । तदाण्डं निरवर्तत । तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥

—छा० ३ १९.१

तदाऽण्डं निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥ तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी । यत्सुवर्णं सा द्यौः । यज्जरायु ते पर्वताः । यदुल्वं (स) समेघो नीहारः । या धमनयस्ता नद्यः । यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥

—छा० ३.१९.२

उपर्युक्त मन्त्र में सृष्टिक्रम का वर्णन अत्यन्त सरलता से ग्राह्य शब्दों में किया गया है।

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥

—छा० ५.२.८

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते ।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥

—छा० ५.२४.५

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

—बृ० १.३.२८

सा होवाच मैत्रेयी—यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्यः । यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥

—बृ० २.४.२

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । ... आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि । आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥

—बृ० २.४.५

यहाँ आत्मतत्त्व के गहन विषय का अत्यन्त सरल शब्दों से प्रतिपादन किया गया है।

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥

—बृ० ४.३.१९

इन मन्त्रो मे दुर्ज्ञेय आत्मा की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था का कितनी सरल भाषा मे वर्णन किया गया है।

तिलेषु तैल दधिनीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।
अज ध्रुव सर्वतत्त्वैर्विशुद्ध ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥

—श्वे० २ १५

माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्त सर्वमिद जगत् ॥

—श्वे० ४. १०

एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥[1]

—श्वे० ६ ११

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —ईशा० ६. १४, १५, केन० १. ६, २. ८, १ ६, कठ० १. ३, १. ५, १. १२, १ २५, २. ७, २. १९, २. १७, २. २३, ३ ४, ३. ५–१२, ५ ५, ५ १०, ५. १२, ५ १३, ६ १४, ६ १५, प्रश्न० १. ८, २. ५, २. १३, ४ २, ४. ११, ६ ५, मु० १. २ ८, १. २. ६, २ १. १, २. १. ६, २ २. ३, २ २, ६, ३ १ ८, तै० २ ३, २. ४, ३ ६–७, ऐत० १. २. ४, छा० १. ६ १ ३. १३ ६, ३. १७ १-४, ३. १८. ३, ४ १७ ७, ७ २६ २, ८. १. ५, बृ० १ ५ २३, २. १ २०, २ ४. १२, ३. ६ १०-१७, ३. ६ २८, ४ ४ ३-४, ४. ४ १६, ४ ५. १५, श्वे० १. १६, २ ६, २. ११, ४. १६, ५ १०, ६ १३, ६ १५, ६ १६, ६ २०.

२.२. रीति

आचार्य भरत ने गुणो का तो उल्लेख किया है, परन्तु गुणो के योग से बनने वाली रीति का निर्देश नही किया। उन्होने रीति के स्थान पर प्रवृत्ति का वर्णन किया है जोकि रीति मे बिल्कुल भिन्न है। रीति का सम्बन्ध भाषाशैली से है, तो प्रवृत्ति मे भाषा के अतिरिक्त वेशभूषा एवम् सामाजिक व्यवहारो का भी सन्निवेश होता है, जो देश के विभिन्न प्रान्तो मे भरत के समय मे प्रचलित थे। सभवत भरत की इन प्रवृत्तियो से प्रेरणा प्राप्त करके ही परवर्ती आचार्यो ने स्थानीय विशेषताओ के आधार पर रीतियो का नामकरण किया हो।

भरत के बाद बाणभट्ट के समय से हम देश विशेष के आधार पर प्रचलित काव्यशैलियो के रूप मे रीति का प्रारम्भिक रूप देखते है। बाणभट्ट कहते है—

> श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
> उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बर ॥[1]

दण्डी के समय से हम साहित्यिक शैली की दो विधाओ से परिचित होते हैं जिन्हे उन्होने वैदर्भ तथा गौडमार्ग के नाम से अभिहित किया है। दण्डी मार्ग के अतिरिक्त वर्त्म तथा पद्धति शब्दो का भी प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि मे काव्य-पद्धति के स्थूल दृष्टि से ये ही दो रूप हैं जिनमे हम स्पष्ट अन्तर कर सकते हैं। वैसे तो हम जितने चाहे भेद कर सकते है। जितने कवि है उतने ही उनके वर्णना के प्रकार होते हैं और उनकी गणना असम्भव है—

> तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिकविस्थिता ।[2]

वामन ने सस्कृत-साहित्यशास्त्र मे रीति की स्थापना के साथ-साथ उसके स्वरूप का निर्धारण भी किया। उन्होने सर्वप्रथम रीति को

---

१. बाण, हर्षचरित, १. ७

२. दण्डी, का० १. १०१

काव्य की आत्मा कहकर उसके महत्त्व को स्थापित किया। उनके मत मे विशिष्ट पदरचना रीति है। पदरचना गुणो के कारण विशिष्ट होती है। अत गुण रीति का मुख्य आधार है। ये रीतिया तीन हैं—(१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पाचाली। पहिले तो प्रदेश-विशेष के कवियों की काव्यरचना-सम्बन्धी शब्दविधा के आधार पर रीतियो का नामकरण हुआ। परन्तु बाद मे विशेष प्रकार की पद्धति के आधार पर उनका विवेचन होने लगा। यह आवश्यक नही रह गया कि गौड देश के कवि ही गौडी का प्रयोग करते। अन्य देशो के कवि भी यदि उस प्रकार की विधा मे काव्य रचना करते थे तो उनकी पद्धति को भी गौडी ही कहा जाता था। इस प्रकार रीतियो का प्रारम्भ मे भौगोलिक स्थिति के आधार पर चाहे नामकरण हुआ हो परन्तु बाद मे वे किसी देश-विशेष या क्षेत्र से सम्बद्ध न रही। उनका क्षेत्र विस्तृत हो गया।

दण्डी के दो मार्गों का आगे चलकर विस्तार होता गया। वामन ने उन्हे दो से तीन और रुद्रट ने तीन से चार बना दिया। भोजराज ने उनकी सख्या मे और वृद्धि की। पहले तो रीतिया भाषा की शैलीगत विशेषताओ के रूप मे स्वीकार की गई और उनका व्यक्तित्व स्वतत्र रहा, परन्तु जब साहित्यशास्त्र मे रसध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई तो काव्य के अलकार, गुण आदि अन्य अगो के समान रीति की भी पुनर्व्यवस्था हुई। रीति रस का उपकारक बन गई और उसे काव्य की आत्मा के स्थान से हटाकर काव्यशरीर मे अगसस्थान का स्थान प्राप्त हुआ।

यहा यह विचारणीय है कि रीति तथा गुण मे क्या अन्तर है। गुण रीति के निष्पादक है, उसके अग है, तथा रीति अगी है। रीति मे समग्रता तथा अखण्डता है और वह कवि की पूर्ण काव्यविधा की परिचायिका है। कालिदास वैदर्भी रीति के कवि है और सुबन्धु तथा बाणभट्ट गौडी रीति के। इस प्रकार रीति एक पद्धति है और वह कवि के रचना-प्रकार को व्यक्त करती है। परन्तु गुण अपने मे अलग अलग इकाई है। वे मिलकर रीति बनाते है, जैसे फूल मिलकर माला बनाते है। माला फूलो के बिना नही बन सकती। रीति भी गुणो के बिना सम्पन्न नही होती। गुण व्यष्टि है और रीति समष्टि।

वैदिक ऋषियो की अभिव्यक्ति की भी अपनी एक पद्धति है, एक विधा है, जिसके माध्यम से वे अपने विचारो को प्रकट करते है। उपनिषदो के ऋषि भाषा के इस अभिव्यक्तिकौशल से परिचित है। बाद मे प्रचलित वैदर्भी, गौडी आदि रीतियो के पूर्वरूप उपनिषदो मे लक्षित किए जा सकते है। इन्ही का परवर्ती साहित्य मे विकास हुआ और लक्षणग्रन्थो मे उनकी विवेचना हुई।

यहा विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित रीतियो के स्वरूप के आधार पर उपनिषदो मे रीतियो का प्रदर्शन किया गया है। विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी, पाचाली और लाटिका ये चार रीतिया मानी है।

२२१. वैदर्भी रीति

विश्वनाथ के अनुसार वैदर्भी का लक्षण है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

—सा० द० ९ २

उपनिषदो मे उपलब्ध वैदर्भी रीति के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत है —

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत.।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥

—ईशा० ७

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन.।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥

—केन० १. ३

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥

—केन० १ ६

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

—केन० २. ४

स्वर्गे लोके न भय किञ्चनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

—कठ० १ १२

आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत ।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

—कठ० २ २१

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

—कठ० ३ १४

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति ।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम ॥

—कठ० ५ १२

इन्द्रस्त्व प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति ॥

—प्रश्न० २ ९

अविद्यायामन्तरे वतमाना स्वय धीरा पण्डितमन्यमाना ।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—मु० १ २ ८

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥

—मु० २ २ ११

वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्य वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । श्रद्धया देयम । अश्रद्धयाऽदेयम । ह्रिया देयम् । भिया देयम । संविदा देयम ।

—तै० १ ११

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन ॥

—तै० २ ४

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यप ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुत ॥

—छा० ५ ११ ५

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर जिघ्रति, तदितर इतर पश्यति ... तदितर इतर विजानाति। यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं जिघ्रेत् तत् केन कं पश्येत् ... विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

बृ० २ ४. १४

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।

—श्वे० १ १

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधौतम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

—श्वे० २ १४

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥[1]

—श्वे ६ १३

७ २ गौडी रीति

विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण है—

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी॥

—सा० द० ९ ३

कुछ एक उदाहरण देखिए—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

—ईश० ८

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —केन० १. १, १ ३, १ ४ १, ७, १ ८, २ ३; कठ० २. १५, ४. ३ ४४, प्रश्न० २ ७, २. ८, ४. २, ४. ८, मु० १ २ ५, १ २ ६, २ १ ६, २ १ ९, तै० भृगुवल्ली (सम्पूर्ण), छा० ४ ७ ८, बृह० १. ४. १७, २ २ ३, ३ ४ १२, . १. ८, ३.६.१-४, ३ ७ १५-२३, ३. ९. २६, ४ १ २-७, ४३.१०, ४ ३ १३, ४. ३ १६-१९, श्वे० १. २, १ १५, १ १६, २. १०, २. १५, २ १६, २. १७, ३. ४, ३. ७, ४ ५-८, ४ १०, ६. ४, ६. ११, ६. १४

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ० ४ १

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥

—कठ० ५ २

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

—प्रश्न० ५. ७

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

—मु० १. १ ६

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥

—मु० १ २. ३

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेयः ॥

—मा० ७

तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् । तद्वाचाऽजिघृक्षत् । तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । स यद्धैनद् वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥

—ऐत० १. ३. ३

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा । एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥

—छा० ३ १४. ३

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् । स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥

—छा० ६ १४. १

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्—

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥

—बृ० २ ५. १६

स होवाच—एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम् । न तदश्नाति किंचन । न तदश्नाति कश्चन ॥

—बृ० ३ ८. ८

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

—श्वे० १ १०

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥[1]

—श्वे० ५ ११

२.२ ३. पांचाली रीति

विश्वनाथ के अनुसार पाञ्चाली का लक्षण है—

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥

—सा० द० ९. ४

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य :— कठ० ६ ११, मु० २.२.६, ३.१.६; छां० १ १० ११, २.६.७, ४.६.३, बृह० १.५ ३, श्वे० ३.१

उपनिषदो मे प्राप्य कतिपय उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते है—

अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन पूर्वमर्षत ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईश० ४

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥

—कठ० १ ३

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाश्छन्दत प्रार्थयस्व ।
इमा रामा सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यै ।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरण माऽनुप्राक्षी ॥

—कठ० १ २५

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय सम्भवन्ति ।
यथा सत पुरुषात केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इम लोक हीनतर वा विशन्ति ॥

—मु० १ २ १०

भीषाऽस्माद्वात पवते भीषा उदेति सूर्य ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम ॥

—तै० २ ८

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदह देवाना जनिमानि विश्वा ।
शत मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥

—ऐत० २.५

आत्मा देवाना जनिता प्रजाना हिरण्यदष्ट्रो बभसोऽनसूरि ।
महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्ति ॥

—छा० ४ ३ ७

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः। यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनम्। यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति॥

—छा० ८ १.५

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति। स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किंच—ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत। सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद॥

—बृ० १ २ ५

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति। एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति॥

—बृ० ४.४ ३

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति॥

—बृ० ६.४ ९

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

—श्वे० १ ६

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

—श्वे० २ ८

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[1]

—श्वे० ३ १३

---

१. अन्यत्र द्रष्टव्य :—कठ० ६.९; मु० २ १.८, ३.१.७; छा० १.७.४, २.२०.२, ३.१.११, ७.४.३, बृह० १.४.८, ४.४ ११, श्वे० ४.१, ४.६, ४.९

२. ३. पाक

पाक भी कभी काव्यशास्त्र के तत्त्वो मे अपना विशिष्ट स्थान रखता था। यत्रतत्र इस विषय मे प्राचीन आचार्यों के मत प्राप्त होते है, पर उत्तरकालीन आचार्यो ने पाक की ओर ध्यान नही दिया। सर्वप्रथम वामन ने पाक का विवेचन करते हुए कहा है—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मन'।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
■ शब्दन्यासनिष्णाता शब्दपाक प्रचक्षते।

—का० सू० १ ३ १५

तदनन्तर उन्होने पाक के दो भेद किए—(१) आम्रपाक (२) वृन्ताक-पाक।

काव्यबन्ध मे गुणो की स्फुटता तथा पूर्णता आम्रपाक है तथा काव्यरचना मे केवल सुप्, तिङ् का सस्कारमात्र होना तथा वस्तुगुण अर्थात् अर्थगुण का विलष्ट होना वृन्ताक-पाक है।

गुणस्फुटत्वसाकल्य काव्यपाक प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥

सुप्तिङसस्कारसार यत् क्लिष्टवस्तुगुण भवेत्।
काव्य वृन्ताकपाक स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्तत ॥

—का० सू० ३. २. १५

राजशेखर ने भी काव्यमीमासा मे पाक का विवेचन किया है।

सततमभ्यासवशात सुकवे वाक्य पाकमायाति। ■ पुनरय पाक ?' इत्याचार्या। 'परिणाम' इति मगल.। 'क पुनरय परिणाम.' इत्याचार्या। 'सुपां तिङा च श्रव (वि ?) या व्युत्पत्ति.' इति मगलः। सौशब्द्यमेतत्। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाक' इत्याचार्या।

तदाहु —

> आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मन ।
> पदाना स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात पदानां परिवृत्तिवैमुख्य पाक ' इति वामनीया । तदाहु —

> यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम ।
> त शब्दन्यायनिष्णाता शब्दपाक प्रचक्षते ॥

'इयमशक्तिर्न पुन पाक ' इत्यवन्तिसुन्दरी । यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठ परिपाकवान भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन पाक । यदाहु—

> गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रम ।
> स्वदते सुधियां येन वाक्यपाक स मां प्रति ॥

तदुक्तम् —

> सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
> अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥

'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्य पर पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीय ।[1]

राजशेखर के पाक विषयक उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि उनका पाक विचार कुछ अशो तक वामन से प्रभावित है। निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यो मे परिपक्वता आती है। अत, पाक कवि के निरन्तर अभ्यास का परिणाम है, यह मगल का मत है। पाक शब्दाश्रित है या अर्थाश्रित इस विषय पर विचार करते हुए राजशेखर ने हमारे सामने दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। मगल आदि आचार्य इसे शब्द का धर्म मानते हैं।, सुबन्त या तिङन्त शब्दो की श्रोत्र मधुर व्युत्पत्ति, पदो के

1. राजशेखर, का० मी०, पटना, १९५४, पृ० ४८-५२

प्रयोग मे निर्भीकता वा नि सन्दिग्धता तथा एक वार लिखे गये पद के पुन. परिवर्तन की आवश्यकता न होना पाक है। इस प्रकार यह पाक शब्द का सौन्दर्य है। परन्तु, अवन्तीसुन्दरी के मत मे रस के अनुगुण शब्द अर्थ एव सूक्तियो का निवन्धन पाक है। अत, पाक केवल शब्द का धर्म नही है। महाकवियो के काव्यो मे एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इस दृष्टि से पाक को केवल शब्द का धर्म मानना अनुचित है।

इस विवाद को शान्त करने के लिए राजशेखर ने शब्दपाक तथा वाक्यपाक स्वीकार किए। शब्दपाक मे शब्द की रमणीयता तथा वाक्यपाक मे अर्थ की विच्छित्ति होती है।

राजशेखर ने स्वयं पाक के नौ भेद किए है – पिचुमन्द पाक, वदर पाक, मृद्वीका पाक, वार्ताक पाक, तिन्तिडी पाक, सहकार पाक, क्रमुक पाक, त्रपुस पाक, नारिकेल पाक। इनमे पिचुमन्द पाक, वार्ताक पाक और क्रमुक पाक सर्वथा त्याज्य हैं। वदर, तिन्तिडीक और त्रपुस मध्यम पाक हैं। मृद्वीका, सहकार और नारिकेल पाक ग्राह्य हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने कपित्थ नामक एक और पाक का भी निर्देश किया है। यह काव्यरचना मे कही सरस, कही नीरस और कही मध्यम रूप से अव्यवस्थित रहता है—

अव्यवस्थितपाक पुन. कपित्थपाकमामनन्ति।[1]

पाक के उपर्युक्त भेदो मे से कुछ के उदाहरण उपनिषदो मे उपलब्ध होते हैं। आगे उनका निर्देश किया जाता है।

२.३.१. नारिकेलपाक

राजशेखर नारिकेल पाक का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलपाकमिति।

—का० मी०, पृ० ५१

---

१. राजशेखर, का० मी०, पटना, १९५४, पृ० ५४

इसके कतिपय उदाहरण देखिए—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

यहां शब्द तथा अर्थ दोनों का सौन्दर्य आदि से अन्त तक मधुर है। पद आद्यमधुर हैं तथा परिवर्तन का सहन नहीं कर सकते। अर्थ भी सुस्वादु है। अतः राजशेखर की दृष्टि में यह नारिकेलपाक का उदाहरण है।

इसी प्रकार,

१ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केन० १ २

यहां श्रोत्र मनस् आदि शब्द परिवृत्त्यसह हैं। इनके प्रयोग से एक विशेष शब्द-सौन्दर्य तथा अर्थ-लावण्य प्रकट होता है एवम् आदि से अन्त तक सरसता बनी हुई है।

२ यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।

—बृ० ४ ५ १५

यहां पर भी शब्द तथा अर्थ में आदि से अन्त तक माधुर्य विद्यमान होने से नारिकेलपाक विद्यमान है।

२ ३ ७ त्रपुसपाक

लक्षण—

आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम् ।

—का० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

> ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानि क्षीणैं क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि ।
> तस्याभिध्यानात्तृतीय देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम ॥
>
> —श्वे० १ ११

यहा ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानि: से स्वादु पदयोजना का आरम्भ है, परन्तु अन्त मे जाकर यह पदयोजना उतनी स्वादु नही रही है, अत इस दृष्टि से यहा त्रपुसपाक है।

इसी प्रकार,

> सत्यमेव जयते नानृत सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
> येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥
>
> —मु० ३ १ ६

इस मन्त्र मे भी उपर्युक्त विधि से त्रपुसपाक है ।

> तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम् ।
> स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥
>
> —ऐत० १ ३ ४

इस मन्त्र के प्रथम खण्ड मे स्वादु सरल पदयोजना है, परन्तु द्वितीय खण्ड म क्लिष्ट तथा जटिल पदयोजना है, अत त्रपुसपाक है।

७ ३ ३ तिन्तिडीपाक

लक्षण—

> आद्यन्तयोर्मध्यम तिन्तिडीपाकम ।
>
> —का० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

> अत्रैप देव स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्ट दृष्टमनुपश्यति । श्रुत श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूत पुन पुन प्रत्यनुभवति । दृष्टं चादृष्ट च श्रुत चाश्रुत चानुभूत चाननुभूत च सच्चासच्च सर्वं पश्यति । सर्वः पश्यति ॥
>
> —प्र० ४.५

यहा आदि और अन्त मे समान पदयोजना है। अत तिन्तिडी-पाक है।

२ ३.४ मृद्वीकापाक

लक्षण—

आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम् ।

—का० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम् ।
नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय तद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा ॥

—मु० १.१ ६

यहा आरम्भ मे क्लिष्ट वर्ण-पदयोजना है, परन्तु बाद मे सरल एव मधुर पदयोजना है,। अत मृद्वीकापाक है।

३

ध्वनि

३.१. ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनि संस्कृत काव्यशास्त्र का महनीय सिद्धान्त है। इसमे काव्य के शरीर से आत्मा की ओर बढने का प्रयास है, जिसकी चरम परिणति रससिद्धान्त मे परिलक्षित होती है। काव्य-विशेष के लिए ध्वनि के व्यपदेश का श्रीगणेश आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे किया तथा 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' कहकर उसे काव्य का परमतत्त्व घोषित किया। ध्वनि का सौन्दर्य अर्थ की प्रतीयमानता मे है। जब कि वाच्यार्थ स्थिर, स्पष्ट एव शुष्क होता है, प्रतीयमान अर्थ उज्ज्वल नक्षत्र के समान टिमटिमाता है, मोती के समान चमकता है तथा तरग के समान चचल होता है। अर्थ की इस दीप्ति तथा तरगायमानता मे उसका सौन्दर्य छिपा है। कहा भी गया है—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया। प्रतीयमान की भी यह विशेषता है कि वह भी ललना के लावण्य के समान क्षण क्षण मे रमणीय है तथा सहृदय के हृदय को अपनी छटा से मुग्ध करता है। अत एव ध्वनि के प्राण प्रतीयमानार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन कहते है—

> प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[1]

यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य मे प्रधानरूप से अवस्थित होता है, तब उसे ध्वनि कहते हैं। यही काव्य का उत्तम प्रकार है। प्रतीयमान की गौणता मे भी उसकी रमणीयता रहती तो है, पर उतनी नहीं जितनी उसकी प्रधानता मे। अत गौण-प्रतीयमान काव्य का

---

१ ध्वन्यालोक, १ ४

मध्यम प्रकार होता है । प्रतीयमान की नगण्यता या अविवक्षा में काव्यत्व हीनकोटि का होता है। अत वह काव्य का अधम रूप है । इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त में प्रतीयमान अर्थ का इतना अधिक महत्त्व है कि ध्वनिवादी उसके प्रधान-गौण भाव से ही काव्य की कोटियो का निर्धारण करते है । जो बात स्पष्ट कह दी जाए, जिसमें कुछ भी छिपा कर न रखा जाए, वह अपने आकर्षण को खो देती है । अत ध्वनिसिद्धान्त में अर्थ को गूढ रखा जाता है, क्योंकि गूढ ही चमत्कृत करता है । वेद और शास्त्र में तो अर्थ की स्पष्टता तथा यथार्थता अभीष्ट होती है, क्योंकि वहा अर्थ के अस्पष्ट रहने से अनर्थ हो सकता है । परन्तु विधाता की सृष्टि से विलक्षण कवि की सृष्टि में यदि लोक तथा शास्त्र के समान सब कुछ स्पष्ट अभिधेय हो जाए, तब वह काव्य ही क्या हुआ ? वह तो शास्त्र बन गया । कवि की कल्पना की उड़ान में अर्थ की गूढता तथा अर्थ की तरग के समान चचलता नितान्त अपेक्षित है । जैसे तरग का सौन्दर्य उसकी चचलता में है उसी प्रकार प्रतीयमान की शोभा उसकी थिरकन में है ।

आनन्दवर्धन प्रतीयमान के इस मर्म को समझ गए । वेद का ऋषि भी प्रतीयमान के सौन्दर्य के इस मर्म से अवगत था । जब ऋषि वाणी की गूढता के विषय में कहता है—

उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

—ऋ० १० ७१ ४

तब वह प्रतीयमान की ही महिमा गाता है । वाणी के वाच्यार्थ को तो सभी समझते हैं । परन्तु उसमें गूढ अर्थ भी छिपा रहता है। उसमें ही सौन्दर्य है । इस सौन्दर्य का देखने वाले विरले ही होते हैं। परन्तु जिनमें उस सौन्दर्य को देखने की लालसा है, योग्यता है, उनके सामने वाणी अपने गूढ सौन्दर्य को ऐसे प्रकट कर देती है, जैसे जाया लावण्य के दर्शन में उत्सुक पति के सामने अपने आवृत रूप को विवृत कर देती है । इसी प्रकार ध्वनि में भी गूढ अर्थ छिपा रहता है । जो उसका आस्वाद प्राप्त करने में असमर्थ है, उनके लिए वह अर्थ सवृत ही रहता है । जो सहृदय होते है, काव्यानुशीलन के अभ्यास

मे विशदहृदय होते हैं, उनके लिए ध्वनिकाव्य मे प्रतीयमान का सौन्दर्य ललनालावण्य के समान उद्भासित होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने वैदिक ऋषि के समय से वाणी को गूढता के रूप मे सकेतित प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि के रूप मे प्रतिष्ठित किया और उसे काव्य की आत्मा कहा तथा काव्य का व्यापी तत्त्व स्थिर किया जिसमे काव्य के अन्य अग—अलकार, गुण, रीति, रस सभी समाविष्ट हो गए।

ध्वनिसिद्धान्त के सस्थापक आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है—

> यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
> व्यक्त काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि. कथित ॥

—ध्वन्यालोक १. १३

जहा शब्द अपने वाच्यार्थ को तथा वाच्यार्थ अपने आपको गौण करके व्यग्यार्थ की प्रतीति कराते है, उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।

३. २. ध्वनिभेद

ध्वनि के दो प्रमुख भेद है—(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि जिसे लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद हैं। (२) विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि। इसे अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी असलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा सलक्ष्यक्रमव्यंग्य दो भेद हैं। सलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्तिमूल—तीन भेद हैं। इनके भी फिर वस्तु से वस्तु वस्तु से अलकार, अलकार से वस्तु तथा अलकार से अलकार आदि भेद होते हैं। इस प्रकार आचार्यों ने ध्वनि के प्रमुख ५१ भेद किए है।[1]

यहा उपनिषदो मे उपलब्ध ध्वनि के उदाहरणो का दिङ्मात्र निर्देश किया जाता है।

३.२ १. लक्षणामूलक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति।

—केन० ३ ५

यहा 'अग्नि' ने अपने लिए 'जातवेदा' का प्रयोग किया है, अत मुख्यार्थबाध होने से लक्षणा है। यह पद केवल साधारण अग्नि अर्थ को प्रकट नही करता, अपितु 'न केवल भूमि के, अन्तरिक्ष के भी पदार्थों को जलाने की सामर्थ्य वाली अग्नि' इस अर्थ को द्योतित करता हुआ अग्नि के सातिशय अभिमान को अभिव्यजित कर रहा है। इस प्रकार 'जातवेदा' पद अपने अर्थ को न छोडता हुआ भी 'अभिमानयुक्त अग्नि'

---

१ भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च॥

अर्थान्तर सक्रमिते वाच्येऽत्यन्त तिरस्कृते।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति॥

अर्थ को व्यजित कर रहा है। अत यहा लक्षणामूलक अर्थान्तर-सक्रमित वाच्य ध्वनि है।

इसी प्रकार केन० ३ ८ मे भी लक्षणामूलक अर्थान्तरसक्रमित-वाच्य ध्वनि है।

> न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
> जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्व वरस्तु मे वरणीय स एव॥
>
> —कठ० १ २७

यहा जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम् मे प्रयुक्त 'त्वम्' पद न केवल सामने बैठे यमराज को सकेतित कर रहा है अपितु सम्पूर्ण विश्व पर एकमात्र अकटक राज्य करने वाले यमराज को द्योतित कर रहा है। अत यहा अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि है।

> न साम्पराय प्रतिभाति बाल प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम।
> अय लोको नास्ति पर इति मानी पुन पुनर्वशमापद्यते मे॥
>
> —कठ० २ ६

> विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेद प्रथम मत।
> असलक्ष्यक्रमो यत्र व्यग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा॥
>
> (सा० द० ४ २-४)

> शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यग्येऽनुस्वानसनिभे।
> ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यग्यस्त्रिविध कथितो बुधै॥
>
> (सा० द० ४ ६)

> वस्तुर्वालङ्कृतिर्वेति द्विधार्थ सभवी स्वत।
> कवे प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट्।
> षड्भिस्तैर्व्यंज्यमानस्तु वस्त्वलकाररूपक।
> अर्थशक्त्युद्भवो व्यग्यो याति द्वादशभेदताम्॥
>
> (सा० द० ४, ७-८)

इस मन्त्र मे 'मे' पद का 'एकमात्र मेरे (यमराज के)' इतना मात्र अर्थ न होकर 'सम्पूर्ण ससार के प्राणियो को, चाहे वे जैसे भी हो, मौत के घाट पहुँचाने वाले, मुझ उचित दण्ड देने वाले यमराज के वश मे आते है', इतना अर्थ अभिप्रेत है। यहा 'मे' पद अपना अर्थ न छोडता हुआ भी, यमराज के गुणो के सहित अर्थ का द्योतक है।

इसी मन्त्र मे 'बालम्' पद मूर्ख के लिए प्रयुक्त है। 'बाल' का मुख्यार्थ यद्यपि बालक होता है, पर प्रकरण मे बालकार्थ अन्वययुक्त न होने से अविवेकी अर्थ को द्योतित कर रहा है। उत्तरवर्ती लौकिक साहित्य मे भी साहित्यिको ने मूर्ख के लिए 'बाल' शब्द का ही प्रयोग कई एक स्थानो पर किया है, जोकि उपनिषदो का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। गीता मे भी सांख्ययोगौ पृथग् बाला प्रवदन्ति न पण्डिता[1] पाया जाता है। अत यहा 'बाल' शब्द 'अज्ञानी' के लिए कवि द्वारा जानबूझ कर रखा गया प्रतीत होता है।

अत यहा अर्थान्तरमक्रमितवाच्य ध्वनि है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

केन० २ ५

यहा 'भूतेषु भूतेषु' पदो मे एक पद का अर्थ प्राणी तथा दूसरे का अनेक है। परन्तु, अनेक अर्थ को बताने वाला 'भूत' शब्द अपने अर्थ का सर्वथा त्याग न करता हुआ, कुछ एक अशो मे उसे सुरक्षित रखे हुए है। इससे सम्पूर्ण प्राणियो का बोधरूप अर्थ व्यग्य होने से यहा अर्थान्तरसक्रमितपरवाच्य ध्वनि है।

३ २ २. लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥

—ईश० ३

१. गीता ५ ४

इस मन्त्र में 'अन्धेन' और 'आत्महन्' पदो मे लक्षणा है। 'अन्धेन' का मुख्यार्थ है 'चक्षुरहित' और 'आत्महन्' का 'आत्मा का नाशक'। पर यहा 'अन्धेन' पद 'तमस्' का विशेषण है। 'तमः' चक्षुरहित नही हो सकता, एवम् 'आत्मा' का विनाश नही किया जा सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने से यहा दोनो ही पदो ने वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने अपने अर्थो को क्रमश 'अज्ञान' या 'अदर्शन' एवम् 'अज्ञानी' कर दिया। अपने अर्थ का सर्वथा त्याग करने से यहा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। इससे व्यग्य है कि मनुष्यो को ज्ञानोपार्जन करना चाहिए।

> न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन ।
> न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
>
> अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
> इति शुश्रुम पूर्वेषा ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥
>
> —केन० १ ३

यहा अविदितादधि मे अधि शब्द अपने वाच्यार्थ 'मे' का परित्याग करके 'सर्वश्रेष्ठ' अर्थ को लक्षित कर रहा है। अत. यहा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि है। प्रयोजन प्रतिपादक होने से यहा इसमे ब्रह्म का अज्ञेयत्व व्यग्य है।

३.२ ३. अभिधामूलक अर्थशक्तिमूलध्वनि

(क) वस्तु से वस्तु-व्यग्य—

> अन्धन्तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥
>
> —ईश० ९

यहा ज्ञान और कर्म को 'विद्या' और 'अविद्या' पदो द्वारा कहा गया है। दोनो को ही आत्मा की प्राप्ति मे आवश्यक बताया गया है। इससे अभिव्यजित है कि आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनो ही अनिवार्य हैं। इस प्रकार यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति । चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १ १

यहा √पत का सुन्दर प्रयोग किया गया है। ऋषि चाहता तो √गम् या √धाव् का प्रयोग भी कर सकता था। पर मन की एकदम पराधीनता बताने के लिए √पत् का प्रयोग है, जैसे कि कोई व्यक्ति जान-बूझ कर नहीं गिरता, न चाहने पर भी गिर पड़ता है। तथा च, स पतति में जिस प्रकार कर्ता स है, किंच वह व्यापार वाला है, पर वह ऐसे व्यापार वाला कर्ता है जो व्यापार अदृश्य शक्ति द्वारा कराया जा रहा है। दार्शनिक भी पतन का आदिकारण गुरुत्व मानते हैं—आद्यपतना-ऽसमवायि कारणत्वं गुरुत्वम् (तर्कसंग्रह)। इसी प्रकार यहा मनः पतति में कर्ता मन है। पर ऋषि का कथन है कि कौन ऐसी वस्तु है जिसके कारण से मन गिर रहा है। इसके पतन में अन्य कारण अवश्य है। इस पद से मन से अतिरिक्त अन्य वस्तु की सिद्धि व्यग्य है, जो कि आत्मा ही हो सकता है। अतः यहा वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

इसी प्रकार, इसी मन्त्र में 'इमाम्' पद भी ऋषि द्वारा विशिष्टार्थ को द्योतन करने के लिए रखा गया है। यहा बिना 'इमाम्' के भी 'वाचं वदन्ति' इस प्रकार कहा जा सकता था। केवल छन्द पूर्ति के लिए भी इसे नहीं माना जा सकता। 'ललिता, मधुराम्' पद से भी काम चल सकता था, पर ऋषि का 'इमाम्' विशेषण से 'इस वाणी' (जिसे मैं 'स्वयं व्यक्त कर रहा हूँ' इस प्रकार की विशिष्ट वाणी) को किस की सहायता से व्यक्त कर रहा हूँ, जिस किसी की सहायता है—वह ही आत्मा है, यह व्यग्य है। अतः यह भी वस्तु से वस्तु व्यग्य का उदाहरण है।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

—केन० २ १

यहा सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ—यदि तू कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ तो निश्चय ही तू ब्रह्म को थोड़ा सा ही जानता है—इससे ब्रह्म की गहनता व्यंजित की गई है। अर्थात् ब्रह्म को जानना अतिकठिन है। जो ब्रह्म को जानने की बात कहते हैं, वे अभी

अज्ञान कूप मे तैर रहे है। ब्रह्म का ज्ञान तो वालमूकास्वादवत् है, जो वाणी का विषय नही है। इस प्रकार यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—केन० ३ ४

यहा 'अभ्यद्रवत्' पद न केवल अपने वाच्य अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है, अपितु यश प्राप्ति के लिए अग्नि की बचैनी को भी द्योतित कर रहा है। लाक मे भी यश प्राप्ति के लिए शीघ्रता की जाती है। अत यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

तस्मै तृणम् निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धु स तत एव निववृते नैतदशक विज्ञातु यदेतद्यक्षमिति ॥

—केन० ३ ६

यहा 'तृणम्' पद अग्नि की तुच्छता को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। जब अग्नि ने कहा कि मैं केवल अग्नि नही अपि तु जातवेदा हूँ अर्थात् अन्तरिक्ष तक के पदार्थों को भस्म कर सकता हूँ, तो यक्ष ने उसके सामने एक तिनका मात्र रखा। (यक्ष और भी किसी वस्तु का रख सकता था) यहा 'तृणम्' के स्थान पर 'काष्ठम्' पद भी रखा जा सकता था, पर यक्ष को एकमात्र उसको नीचा दिखाना अभिप्रत था, क्योकि वह तिनके मात्र को पूरी शक्ति से भी नही जला सका, यद्यपि वह उसके पास भी गया। इसलिए यहा केवल 'तृणम्' से ही नही 'सर्वजवेन उपप्रेयाय' तथा 'न शशाक' पदो से भी विशिष्ट व्यग्य निकलता है। जब भयकर आग जलती है, तो आस-पास के तिनके आग की लपटो से वैसे ही (आग के उनके पास जाये बिना भी) भस्मीभूत हो जाते है। पर यहा आश्चर्य यह है कि जो अग्नि अपने को 'जातवेदा' कह रहा है उसके सामने यक्ष ने एक छोटा तिनका डाला। आग पूरे जोर से एकदम उसके पास भी गई, पर उसको जला न सकी। इस प्रकार तीनो ही पद सप्रयोजन है, और इनमे यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

देवैरत्रापि विचिकित्सित पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्म ।
अन्य वर नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥

—कठ० १. २१

यहा 'मा मोपरात्सी' मे 'मा' पद की द्विरुक्ति यमराज की व्याकुलता को अभिव्यंजित कर रही है। जिस प्रकार कोई धनी ऋणी को दबाना चाहता है और वह व्याकुल होकर बडी आकुलता से छुटकारा पाना चाहता है, इसी प्रकार यमराज नचिकेता की वरविषयक इस ऋण की वापसी से व्याकुल हो रहा है, जो कि 'मा मा' के उच्चारण से प्रतीति मे आ रही है। अत यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

> इमा रामा सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यं ।
> आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरण मानुप्राक्षी ॥
>
> —कठ० १ २५

यहा 'इमा' पद से व्यग्य है कि किसी को एक भी अप्सरा प्राप्त नही होती, तुझ मैं इन अपनी ही परिचारिकाओ को, जोकि मेरे पास है, और सामने, तेरे समीप ही बैठी है, तुझे देता हू। इस तरह बहुवचन मे 'इदम्' शब्द का उपस्थित वस्तु के लिए प्रयोग उपर्युक्त अर्थ का अभिव्यजक है।

इसी मन्त्र मे 'मत्प्रत्ताभि' मे 'मत्' का प्रयोग भी विशिष्ट प्रतीति का व्यजक है, जिसमे व्यग्य है कि मुझसे ही ये प्राप्त हैं, साधारणजनो द्वारा इन्हे प्राप्त नही किया जा सकता। यह व्यग्य वस्तु-रूप है। अत यहा वस्तु मे वस्तु ध्वनि है।

> अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्य क्वधस्थ प्रजानन् ।
> अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥
>
> —कठ० १ २८

यहा 'को रमेत' पद मे प्राणियो की सासारिक जीवन मे चिरकाल तक रहने की अनिच्छा द्योतित हो रही है अर्थात् कोई भी व्यक्ति दुख के कडाहो मे पडने को तैयार नही हो सकता है। यहा यह वस्तु व्यग्य है कि दूषित सासारिक पदार्थों को भोगने के लिए चिरकाल के जीवन की प्राप्ति अनर्थकारी ही है।

> दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
> विद्याभीप्सिन नचिकेतस मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥
>
> —कठ० २.४

यहां 'दूरम्' पद विद्या और अविद्या की गम्भीर खाई को द्योतित कर रहा है। इसी प्रकार यहीं पर प्रयुक्त 'नचिकेतसम्' पद यम की तटस्थता को व्यंजित कर रहा है। नचिकेता ने सामने बैठे यमराज को मध्यमपुरुषवाचक पदों से ही सम्बोधित किया, पर यमराज यहां सामने बैठे हुए नचिकेता को मध्यमपुरुषवाची सर्वनाम द्वारा संकेतित न करके अन्यपुरुषवाचक 'नचिकेतसम्' नामपद से सम्बोधित कर रहा है। इससे यह वस्तु व्यंजित होती है कि यमराज के हृदय में नचिकेता साधारण बालक नहीं, अपितु असाधारण व्यक्ति है। अतः वह उसका नाम लेने में ही गौरव समझता है, अथवा उसके हृदय में उसके लिए श्रेष्ठ गुरुओं से भी अधिक स्थान विद्यमान है। अतः यहां वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

> हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
> यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥
>
> —कठ० ५. ६

यहां 'हन्त' पद में यह वस्तु व्यंग्य है कि यद्यपि मैं नहीं चाहता, पर तुम्हारे बार बार के इस दुराग्रह के कारण तुम्हें इस गुह्य ज्ञान को बता देता हूँ।

> यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
> शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥
>
> —श्वे० ३. ६

यहां 'इषु' पद से वस्तुरूप ध्वनि है कि इषु (बाण) को शरीर-रहित व्यक्ति धारण नहीं कर सकता। अतः आप (भगवान्) साकार होकर बाण धारण करते रहते हैं। आप हमें उसी रूप को दिखाओ जो साकार है। किन्तु हम रौद्र रूप को नहीं देखना चाहते, अपितु शिव रूप को ही देखना चाहते हैं।

इसके साथ ही यहां 'गिरित्र' पद से यह ध्वनि निकलती है कि दूसरों का कल्याण, रक्षा करना आपका निजी स्वभाव है।

> आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
> तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥
>
> —श्वे० ६. ५

यहा 'स्वचित्तस्थम पद व्यजक है, जिससे तात्पर्यार्थ का ज्ञान हो रहा है कि वह देव जो सम्पूर्ण विश्व के अन्दर व्याप्त है, तुम्हारे अन्दर भी व्याप्त है। अत ससार तथा तुम मे कोई भेद नही। एकमात्र मायाकृत भेद मे फसा हुआ जीव उसको इधर उधर देखता है। अत सम्पूर्ण विश्व का निर्माता ब्रह्म इसी प्रकार तुम्हारे हृदय मे विद्यमान है, जैसे कस्तूरिकामृग की नाभि मे सुगन्ध। पर वह मृग सुगन्ध को अपने मे न देखकर इधर उधर उसको ढूंढता हुआ नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विश्वरूप उस परमात्मा का हम अपने मे न ढूंढकर इधर उधर देखते हुए, अनेक योनियो मे पडकर कर्मकीच से सनते हुए अनेको कष्ट भोगते है। यहा ईश्वर को अपने मे ही ढूंढो, यह वस्तु व्यग्य है।

विशेष—

केन उपनिषद् के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड मे ऋषि विषय का प्रतिपादन स्वय करता रहा, पर तृतीय खण्ड मे यक्ष को माध्यम बनाकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसका प्रयोजनभूत तात्पर्यार्थ है कि किसी को भी अभिमान नही करना चाहिए, अभिमानी का सिर नीचा होता है। यह व्यावहारिक ज्ञान बताना ही ऋषि का अभिप्रेत है जो वाच्य न होकर मन्त्रो मे यथास्थान व्यग्यरूप मे दिखाया गया है। जैसे—

तस्मिन् त्वयि किं वीर्यमित्यपीद सर्वं दहेय यद् इद पृथिव्याम् इति।

—केन० ३ ५

यहा 'सर्व दहेय यद् इदम् ' पदो से लौकिक पदार्थों की तुच्छता द्वारा अग्नि अपने सामर्थ्य को व्यग्य रूप से प्रकट कर रहा है।

स होवाच पितर तात कस्मै मा दास्यसीति। द्वितीय तृतीय त होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति।

—कठ० १ ४

यहा ऋषि ने पिता पुत्र के सम्वाद द्वारा मृत्यु के रहस्य तथा आत्मतत्त्व की गहनता को बताया है।

पुत्र द्वारा बार बार पूछे जाने पर पिता—मृत्यवे त्वा ददामि—तुझे मृत्यु को देता हू, इस प्रकार कहता है। यहा त्वा ददामि पदो के बिना भी अर्थ का बोध हो सकता था, क्योकि √दा का प्रयोग नचिकेता पहले कर चुका था। अत 'मृत्यवे' अर्थात् मृत्यु को दूंगा, इतना ही कहना

पर्याप्त था। पर उसके पिता ने मृत्यवे त्वा ददामि इतने पद कहे, जिनसे पिता का क्रोधातिशय व्यजित हो रहा है। अत यहा वस्तु-ध्वनि है।

(ग) अलकार से वस्तु व्यग्य—

> अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
> तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
>
> —ईश० ४

आत्मा विचलित न होने वाला है, पर मन से भी तेज चलने वाला है, दौडते हुए को दौड मे हरा देता है। पर जो कही जाय ही नही वह कैसे मन से तेज दौड सकता है, तथा तज दौड लगाने वालो को कैसे दौड मे जीत सकता है। इस प्रकार यहा विरोध होने से विरोधालकार है। विरोध दिखाकर यहा परमात्मा की नित्यता तथा सर्वव्यापकता व्यग्य है। अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त होने से कही आता जाता नही, तथा जो गतिशील प्राणी है, उनकी अपेक्षा उस स्थान मे पहले ही विद्यमान रहता है जहा के लिए कोई गमनानुकूल व्यापार करता है। इस प्रकार वह परमात्मा नित्य, कर्तृत्वधर्मरहित, सर्वव्यापक है। किन्तु यह अर्थ वाच्य नही, व्यग्य है।

> स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
> कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
>
> —ईश० ८

इस मन्त्र मे भी परमात्मा के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण साभिप्राय हैं। साभिप्राय विशेषण होने के कारण यहा परिकर अलकार है जिससे परमात्मा की निर्गुणता अभिव्यजित हो रही है।

> श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण ।
> चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
>
> —केन० १. २

यहा आत्मा के कानो का भी कान, मन का भी मन इत्यादि रूप से वर्णित होने के कारण आपातत विरोध होने से विरोध अलकार

है। इस विरोध अलंकार से उस परमात्मा का सर्वनियन्तृत्व वाच्य न होकर व्यंग्य है।

इसी प्रकार, इसी मन्त्र में प्रेत्यास्माल्लोकाद् अमृता भवन्ति—मर कर अमर हो जाते हैं—इस प्रकार एकत्र ही मरणशीलत्व तथा अमरत्व इन दो विरुद्ध धर्मों का अध्याहार होने से विरोध अलंकार है, जिससे आत्मा की श्रेष्ठता अभिलक्षित हो रही है कि आत्मा नित्य है, वह मरता नहीं, वह श्रेष्ठ तत्त्व है, मुक्त होने पर वह स्वरूप में स्थित हो जाता है।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥

—केन० ४४

यहाँ ब्रह्म की सत्ता को द्योतित करने के लिए बिजली की चमक तथा पलक की झपक को उपमान रूप में रखा गया है, अतः मालोपमा अलंकार है। इसमें ब्रह्म का अदर्शन व्यंग्य है। बिजली की चमक में भी आँख किसी वस्तु को नहीं देख सकती, अपितु बन्द हो जाती हैं, तथा पलक मारने पर भी आँखें किसी बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः चर्मचक्षुओं से आत्मा का प्रकाश देखना कठिन है। यही तात्पर्य ऋषि का यहाँ अभिप्रेत है जो मालोपमालंकार से व्यंजित हो रहा है।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥

—कठ० १६

यहाँ मनुष्य खेती की तरह पकता है तथा खेती की तरह पुनः उत्पन्न होता है, इस उपमालंकार से मनुष्य की मृत्यु अवश्यम्भावी बताई गई है, जिससे नचिकेता अपने पिता को शिक्षा देता है कि 'अब आप मुझे यमराज के यहाँ भेज दीजिए।' यह व्यंग्यार्थ सस्य की उपमा से प्रतीत हो रहा है, अतः यहाँ अलंकार से वस्तुध्वनि है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

—कठ० २

यहाँ विरोध अलंकार से आत्मा की दुरूहता रूप वस्तु व्यंग्य है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठ० २.१८

यहा भी न हन्यते हन्यमाने शरीरे में विरोध अलकार है जिससे आत्मा की नित्यता व्यग्य है। अर्थात् शरीर विनाशी होने पर भी उसमें रहने वाला आत्मा नित्य है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

—कठ० २.२२

यहा पर शरीरो मे अशरीरी तथा अनित्यो मे नित्यरूप से वर्णन होने से विरोध अलकार है जिससे ब्रह्म की कारणता व्यग्य है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥

—कठ० २.२५

यहा कौन ऐसा है जो यह जान सके कि वह कौन है और कहां है अर्थात कोई नहीं इस प्रकार अर्थापत्ति अलकार है, जिससे आत्मा की समर्थता व्यग्य है। यहा 'ओदन' और 'उपसेचन' पदो को विशिष्टार्थ को द्योतित करने के लिए रखा गया है। जैसे दाल के साथ भात खाने से किसी प्रकार का कष्ट नही होता, वैसे ही उस आत्मा को ब्राह्म शक्ति और क्षात्र शक्ति को नष्ट करने मे तनिक समय नही लगता और न कठिनता प्रतीत होती है।

उपसेचन—

यदि भात बिना साग खाया जाए तो थोडी कठिनाई अनुभव हो सकती है, अत उसके साथ साग मिलाया जाता है। ब्रह्म एवं क्षत्र शक्ति के विनाशार्थ यहां मृत्यु का सहारा लिया गया है, किन्तु जैसे सहायभूत

माग भी भात के साथ खा लिया जाता है उसी प्रकार मृत्यु को भी ब्रह्म द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। अत यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य भी है कि ब्रह्मप्राप्ति से मनुष्य जन्म मरण के चक्कर से रहित हो जाता है।

> पचपाद पितर द्वादशाकृति दिव आहु परे अर्धे पुरीषिणम् ।
> अथेमे अन्य उ परे विचक्षण सप्तचक्रे षडर आहुरपितमिति ॥
>
> —प्रश्न० १ ११

यहा रूपक अलकार शब्दो द्वारा स्पष्ट होने से वाच्य है, जिसके द्वारा ब्रह्म की ससार के प्रति कारणता व्यग्य है।

> व्रात्यस्त्व प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पति ।
> वयमाद्यस्य दातार पिता त्व मातरिश्व न ॥
>
> —प्रश्न २ ११

यहा एक ही वस्तु (ईश्वर) को विषयभेद से अनेक प्रकार से वर्णित किया गया, जिससे उल्लेख अलकार वाच्य है और उससे ध्वनित है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवम् उपास्य है।

> यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा ।
> तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
>
> —मु० २ १ १

यहा वाच्य अर्थ है कि जिस प्रकार अग्नि मे से तत्स्वरूप अनेको चिनगारिया निकलती है, इसी प्रकार अक्षर से अनेको भाव प्रकट होते हैं। यहा अग्नि से चिनगारियो के निकलने के समान ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति दृष्टान्त अलकार से कही गई है, जिससे तात्पर्य निकला कि आग और चिनगारिया मे जिस प्रकार अभिन्नता है, ब्रह्म और जीव मे भी इसी प्रकार अभिन्नता है। इस प्रकार यहा जीव ब्रह्म की एकता की अलकार से वस्तु व्यग्य है।

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥
>
> —मु० २ २ ११

यहा प्रतिषेध अलकार है, जिससे ब्रह्म का सर्वप्रकाशकत्व व्यग्य है। इससे उस ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वत ज्ञात हो जाती है , क्योकि, जिसमे स्वय प्रकाश नही वह दूसरे को भी प्रकाशित नही कर सकता। अत 'ब्रह्म स्वत प्रकाश है', यह व्यग्य अर्थ है जो कि प्रतिषेध अलकार से द्योतित है। इस प्रकार यहा अलकार से वस्तु व्यग्य है।

इसी प्रकार मुण्डक ३ २ ८ मे भी प्रतिषेध अलकार से 'विशुद्ध चित्त द्वारा ही आत्म तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है', यह व्यग्य है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

'जो बडे मे बडा भी है तथा छोटे से छोटा भी, तथा दूर से दूर और पास मे पास, वह हृदय मे छिपा है।' इस प्रकार यहा एक मे ही विरुद्ध धर्मों के वर्णन से विरोध अलकार है, और उससे ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता वस्तु व्यग्य है।

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मु० ३.२ ८

जिस प्रकार समुद्र मे कितनी ही नदिया मिल जाय पर समुद्र मे कोई अन्तर नही आता, वह ज्यो का त्यो रहता है, इसी प्रकार उस ब्रह्म मे कितने ही जीव मिल जाये उसमे कोई अन्तर नही आता। जिस प्रकार समुद्र और नदी एक ही हैं इसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी एक ही है, केवल नामरूप का भेद मात्र है। यहा दृष्टान्त अलकार है, जिससे जीव ब्रह्म की एकता व्यग्य है।

ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपाख्यान भूत भवद् भविष्यदिति सर्वमोकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योकार एव।

—मा० १

यहा ओकार का वर्तमान-सा वर्णन होने से भाविक अलकार है, जिससे ओकार की उपासना व्यग्य है।

जागरितस्थानो बहि प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशतिमुख स्थूलभुग्वैश्वानर प्रथम पाद ।

—मा० ३

यहा आत्मा का पुरुषाकार मे सागरूपक से वर्णन है, जिससे आत्मा की अद्वैतता अर्थात् उस आत्मा को इस प्रकार देखने से द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, यह व्यग्य है।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति । न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच । कामो म उदपानमिति ॥

—छा० १.१०.४

इभ्य ने कहा—'क्या ये (कुल्माष) जूठे (उच्छिष्ट) नहीं हैं ?' उसने उत्तर दिया—'(नहीं क्योंकि अन्यथा) मैं जीता न रहता', इत्यादि ।

यहा न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा ?—'ये भी उच्छिष्ट नही', यह सीधा अर्थ है। पर काकु वक्रोक्ति से 'क्या ये उच्छिष्ट नही ? अर्थात् हैं', इस प्रकार हो जाता है। इस प्रकार यहा वक्रोक्ति अलकार है, जिससे व्यग्य निकलता है कि आपत्ति के समय मनुष्य को उचितानुचित साधनो से प्राण बचा लेने चाहिए।

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रु काश्य ब्रह्म ते ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रु सहस्रमेतस्या वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥

—बृ० २.१.१

यहा जनक जनक साभिप्राय विशेष्य होने से परिकराकुर अलकार है, जिससे जनक की अतिशयदानशीलता व्यग्य है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीत ॥

—बृ० २.४.७

यहा दृष्टान्त अलकार है, और दृष्टान्त मे आत्मा की सर्वत्र व्यापकता व्यग्य है।

सर्वव्यापिनमात्मान क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूल तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

—श्वे० १.१६

—जो, आत्मविद्या और तप का मूल है तथा जिसमें परम श्रेय आश्रित है, आत्मदर्शी उस सर्वव्यापी आत्मा को दूध में विद्यमान घृत के समान देखता है।

यहां उपमालंकार है, जिससे आत्मा की सर्वत्र व्यापकता व्यंग्य है।

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥

—श्वे० ४ ९

यहां अनेकों का एक साथ वर्णन होने से समुच्चयालंकार है। समुच्चयालंकार से ब्रह्म की सर्वव्यापकता, शक्तिमत्ता अर्थात् वह ईश्वर अणु-अणु में विद्यमान है, यह व्यंग्य है।

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥

—श्वे० ४. २१

यहां साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है और उससे परमेश्वर ही सब का रक्षक है, यह व्यंग्य है।

अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

—कठ० ४. १५

यहां आत्मा द्वारा अपने अविद्यादिजन्य गुणों को छोड़कर पवित्रता, नित्यतादि गुण ग्रहण करना व्यंग्य है, जो कि उपमा अलंकार से प्रतीति में आ रहा है। जहां अपने गुणों को छोड़कर दूसरे के गुणों को ग्रहण करने का वर्णन वाच्य या व्यंग्य रूप से पाया जाय वहां तद्गुण अलंकार होता है। यहां उपमालंकार से तद्गुण अलंकार व्यंग्य रूप से प्रतीति में आ रहा है। इस प्रकार यहां अलंकार से अलंकार व्यंग्य है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

—कठ० ५ ९

यहा वाक्यार्थोपमा अलकार द्वारा उस एक ही आत्मा को अनेको मे व्यग्य रूप से बताया जा रहा है। इस प्रकार विशेष अलकार व्यग्य है।

> वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च ॥
>
> —कठ० ५. १०

तथा—

> सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुर्वैर्बाह्यदोषै ।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु खेन बाह्य ॥
>
> —कठ० ५ ११

इन मन्त्रो म भी वाक्यार्थोपमा अलकार से विशेष अलकार व्यग्य है।

> सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।
>
> —मा० ८

यहा अन्योन्यालकार से विनोक्ति अलकार व्यग्य है कि पाद के विना मात्रा नही तथा मात्रा के विना पाद नही।

> स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षाद् उभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च भवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एव वेद ॥
>
> —मा० १०

यहा जो उपासक ऐसा जानता है, वही अपनी ज्ञान-सन्तान का उत्कर्ष करता है, इस प्रकार हेतु अलकार है। हेतु अलकार से दृष्टान्त अलकार व्यग्य है कि जिस प्रकार अकार से उकार उत्कृष्ट है, उसी प्रकार विश्व से तैजस उत्कृष्ट है, या दोनों में समानता है।

> एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पचमहाभूतानि पृथिवी'''प्रज्ञान ब्रह्म ॥
>
> —ऐत० ३ ३

यहा एक ही को प्रजापति, देवता, पचमहाभूत आदि कहा गया है, जो कि परस्पर विरुद्ध है, अत विरोध अलकार है। उससे ब्रह्म की सर्वत्र

व्यापकता सिद्ध हो रही है कि वह एक ही ब्रह्म अपने चेतन स्वरूप से अथवा कारणात्मक रूप से सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार एक की ही अनेकत्र विद्यमानता व्यग्य होने से विशेषालकार अभिव्यजित हो रहा है।

> नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत् ।
> न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश ॥
>
> —श्वे० ४ १९

तथा—

> न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
> हृदा हृदिस्थ मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ।
>
> —श्वे० ४ २०

इन दोनो मन्त्रो मे प्रतिषेध अलकार है,' और प्रतिषेध अलकार से परमात्मा की शक्तियो का वर्णन तथा उसकी महिमा का वर्णन होने से उदात्त अलकार व्यग्य है।

> न तस्य कार्यं करण च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
>
> —श्वे० ६ ८

यहा परिसख्या अलकार है। परिसख्या अलकार से अर्थापत्ति अलकार व्यग्य है कि ये सब पदार्थ विनाशशील मनुष्य मे विद्यमान रहते हैं, ब्रह्म मे नही। वह अज है।

३२४ पद-ध्वनि

> अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥
>
> —केन० ३ ११

यहा ऋषि को तिरोदधे पद से एकमात्र इतने अर्थ का बोधन कराना अभिप्रेत नही कि यक्ष इन्द्र के सामने से छिप गया, अपितु इन्द्र का अत्यधिक अपमान व्यग्य है। अग्नि तथा वायु जब यक्ष के समीप गये तो यक्ष ने कम से कम उनसे बातचीत तो की, भले ही उनकी

परीक्षा ली और वे सफल न हुए। किन्तु यहा, यद्यपि इन्द्र इन दोनो देवताओ से श्रेष्ठ था, पर यक्ष ने उससे वार्तालाप करना तो दूर रहा, उससे मिलना भी उचित न समझा, जो कि उसका अत्यधिक अपमान था। लोक मे भी यदि कोई बडा आदमी और उसके साथ दो छोटे आदमी किसी के पास जाए और वह व्यक्ति उन छोटो से तो मिल ले और वार्तालाप कर ले पर बडे से वार्तालाप करना भी उचित न समझे तो वह उसका अत्यधिक अपमान है। इसी प्रकार यहा तिरोदधे पद इन्द्र के अतिशय अपमान को अभिव्यजित कर रहा है। अत पदगत ध्वनि है।

> सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ।
> ततो हैव विदाचकार ब्रह्मेति ॥
>
> —केन० ४ १

यहा एतद् पद से यह ब्रह्म की ही विजय है, न कि अग्नि वायु और इन्द्र की, यह अर्थ व्यग्य होने से पदगत ध्वनि है।

> तद्ध तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।
> स य एतदेव वेद अभि हैन सर्वाणि भूतानि सवाञ्छन्ति ॥
>
> —केन० ४ ६

यहा √वन (सभक्तौ)+अच से निष्पन्न वन पद ब्रह्म की अतिशय भजनीयता द्योतित करता है, अत पदगत ध्वनि है।

> स्वर्गे लोके न भय किंचनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति ।
> उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
>
> —कठ० १ १२

यहा नचिकेता यमराज को सम्बोधित करता हुआ उसके लिए त्वम् पद का प्रयोग कर रहा है। अर्थात वहा स्वर्ग म 'तू' नहा है। जिसका तात्पर्य है कि मृत्यु लोक म सबसे अधिक भय तेरा ही बना रहता है। उससे छुटकारा पाना ही यहा त्वम पद के रखने का प्रयोजन है। इस प्रकार त्वम् से चेष्टा अर्थात् उगली के सकेत का भी भान हो रहा है कि नचिकेता ने यमराज का सकेत करते हुए यह कहा होगा। इसके अतिरिक्त यहा भवान या यूयम् पद का भी प्रयोग किया

जा सकता था, पर त्वम पद से जो सामर्थ्य है वह उनमे न होने से ऋषि द्वारा त्वम् का ही प्रयोग किया गया है। अत शब्द की महिमा से पदगत वैशिष्ट्य होने से, चमत्कारपूर्ण अर्थ के द्योतन से पदगत ध्वनि है।

> एह्येहीति तमाहुतय सुवर्चस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान वहन्ति।
> प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक ॥
>
> —मु० १ २ ६

यहा एहि एहि पद की द्विरुक्ति अतिशय व्याकुलता को अभिव्यक्त कर रही है, अत पदगत ध्वनि है।

इसी प्रकार—

> अविद्याया बहुधा वर्तमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला ।
> यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
>
> —मु० १ २ ९

यहा बाला पद विशिष्टार्थ का व्यजक होने से पदगत ध्वनि है। बाल उसको कहते हैं जिसकी बुद्धि परिपक्व नही होती। प्राय साहित्य मे बाल शब्द का प्रयोग अज्ञानी के लिए हुआ है। यहा भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति होने से पदगत ध्वनि है।

> आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत। नान्यत् किचन मिषत्। स ईक्षत—लोकान्नु सृजा इति।
>
> —ऐत० १ १ १

यह भी पदगत ध्वनि का उदाहरण है। पहले यह ससार एकमात्र आत्मा ही था। यहा आसीत पद का प्रयोग सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व एकमात्र चेतन आत्मा की सत्ता बताने के लिए किया गया है कि इस जगत की उत्पत्ति से पूर्व यह सब कुछ एकमात्र आत्मा (ब्रह्म) ही था, अन्य कोई तत्त्व उस समय न था। यद्यपि आत्मा नित्य होने से, इस समय भी वह सब का कारण होने से, सब मे व्याप्त है, पर जैसा शुद्ध स्वरूप उसका पहले था वैसा अब नही, अब वह जडात्मिका माया से

मिश्रित हैं। अत यहा अस्ति का प्रयोग न करके आसीत का प्रयोग किया गया है, जो कि इस प्रकार ब्रह्म को विजातीय, सजातीय तथा स्वगत भेद से रहित बता रहा है।

३ २ ३ वाक्य ध्वनि

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन ।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
—केन० १ ३

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥
– केन० १ ४

यहा सम्पूर्ण वाक्यार्थ मे ब्रह्म जीव की एकता तथा उनका अज्ञेयत्व व्यग्य है। अर्थात् ब्रह्म के जीव से पृथक् न होने से जीव की अपनी इन्द्रियो का बाह्य वस्तुओ मे ही प्रेषण हो सकता है, ब्रह्म मे नही। अत चक्षु वाणी, मन आदि का वहा गमन-निषेध बताया गया है। यहा पूरे वाक्य से तात्पर्यार्थभूत व्यग्यार्थ का बोध होने से पूरे वाक्य को ही व्यजक माना जा सकता है।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
—कठ० १ २६

इस मन्त्र मे तवैव वाहास्तव नृत्यगीते इस पूरे वाक्य से सासारिक पदार्थों की तुच्छ बताना नचिकेता का तात्पर्य है, जो वाच्य न होकर व्यग्य है।

यही पर, अपि सर्वं जीवितमल्पमेव मे अपि इस भाव का व्यजक है कि यदि जीवन चिरस्थायी होता तो मनुष्य के तेज को नष्ट करने वाले भोग किसी प्रकार स्वीकार्य हो भी सकते थे, पर यहा तो मणितेऽपि सगुने न शान्तो व्याधि जैसा हाल है। अत तवैव वाहास्तव नृत्यगीते अर्थात् मुझे इनम से कुछ भी नहीं चाहिए, इस प्रकार की अरुचि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ है।

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वमह्रस्वम-दीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवा-गमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम् न तदश्नाति किंचन । न तदश्नाति कश्चन ॥

—बृ० ३ ८ ८

यहा सम्पूर्ण वाक्य मे ब्रह्म को सबसे पृथक् बताया गया, जिससे व्यग्यार्थ निकला कि ब्रह्म अज्ञेय है। इस प्रकार वाक्य के वैशिष्ट्य से यहा वस्तुध्वनि है।

सा होवाच—ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वम् । न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति । ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥

—बृ० ३ ८ १२

यहा जो ब्राह्मण याज्ञवल्क्य को जीतना चाहते थे और जिन्होंने याज्ञवल्क्य का तिरस्कार किया था, गार्गी उन्हे याज्ञवल्क्य से हाथ जोडकर छुटकारा पाने को कहती है। हाथ जोड कर छुटकारा पाने से व्यग्य है कि तुम याज्ञवल्क्य से इस बात की क्षमा-याचना करो और भविष्य मे किसी का तिरस्कार न करने का वचन करो। यहा सम्पूर्ण वाक्य से याज्ञवल्क्य की अजेयता व्यग्य है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १. १५

यहा सम्पूर्ण वाक्य से यह व्यग्य है कि 'वह परमात्म-तत्त्व सब के हृदयो मे व्याप्त है, यदि कोई उसको अपने मे ही ढूंढे तो वह प्राप्त हो सकता है' अर्थात् आत्मा की प्राप्ति हृदय से ही है बाहर से नही।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मन ॥

—श्वे० २ ६

यहा प्रत्येक वाक्य से ध्वनि निकल रही है। जैसे—अग्निर्यत्राभिमथ्यते से व्यग्य है कि सर्वप्रथम यज्ञ इत्यादि का अनुष्ठान होता है, उसके वाद, वायुर्यत्राभिरुध्यते से तात्पर्य निकलता है कि तत्पश्चात् प्राणायाम और तव समाधि होती है, एवम् तदनन्तर महावाक्य का वोध होता है। अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य तक पहुँचने में व्यग्य रूप से यहा क्रम वताया गया है।

३ २ ६ निपात-ध्वनि

केनेषित पतति प्रेषित मन केन प्राणः प्रथम. प्रैति युक्त ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १.१

यहा क उ देवो युनक्ति मे क के साथ उ निपात से जिज्ञासा मे अत्यधिक प्रवलता द्योतित हो रही है—'कौन ऐसा देव हो सकता है?' इस प्रकार उ निपात से अर्थ में चमत्कार एवम् जिज्ञासा की प्रवलता व्यग्य होने से यहा निपात की व्यजकता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केन० २.५

इस मन्त्र मे चेत् निपात व्यजक है जिससे प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार परिलक्षित है कि 'ब्रह्म को इसी जन्म मे जान लेना ही सबसे वडा कर्तव्य है।' यहा दोनो चेत् निपातो से ब्रह्म का ज्ञान कठिन होते हुए भी अवश्य ग्राह्य है, यह वस्तु व्यग्य है।

स ईक्षत—इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च। अन्नमेभ्य॰ सृजा इति।

—ऐत० १.३ १

यहा नु निपात व्यंजक है जिससे स्रष्टा की चिन्ता व्यक्त हो रही है कि मैंने इन लोक और लोकपालो की रचना तो कर ली, अव अन्य वस्तुओं की भी स्थापना करनी चाहिए।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदह देवानां जनिमानि विश्वा ।
शत मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयमिति ॥

—ऐत० २.१.५

यहा तु निपात ऋषि के सामर्थ्य को द्योतित कर रहा है। गर्भे नु गर्भ में ही मैंने देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया था। जन्म लेने के बाद किसी प्रकार की शक्ति को प्राप्त करने से तो साधारण व्यक्ति भी जान गए होंगे या जान सकते हैं, पर मैंने तो गर्भ में ही इसको जान लिया था। अन्यों की अपेक्षा यह वामदेव की विशिष्ट महिमा को द्योतित कर रहा है। अत यह भी निपात ध्वनि का ही उदाहरण है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वे० २. १५

यहा तु निपात व्यंजक है। इससे आत्मभाव द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं, यह व्यंग्यार्थ प्रतीति में आ रहा है।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमाना।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

—श्वे० ६ १

यहा देवस्यैष महिमा तु लोके में प्रयुक्त तु निपात व्यंजक है, जिससे अर्थापत्ति अलंकार द्वारा व्यक्त है कि यह ईश्वर की ही शक्ति है जो इस प्रकार ब्रह्म-चक्र चला रही है अर्थात् ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है।

३.२.७ प्रत्यय-ध्वनि

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥

—ऐत० २ १.४

इस मन्त्र में प्रयन् प्र + √इण् + शतृ का रूप है। शतृ प्रत्यय के प्रयोग के कारण जीव के एक शरीर को छोड़ने के साथ-साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट होने की स्थिति पर बल दिया गया है, अर्थात् एक ओर से शरीर-त्याग करते ही दूसरी ओर अपने कर्मों के अनुसार ठीक उसी

प्रकार जन्म ग्रहण करता है जैसे जोंक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हुई पहले दूसरे स्थान को प्राप्त कर लेती है तब पहला स्थान छोड़ती है। इस प्रकार शवन्त प्रयन् पद में यहा व्यग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

३.२८ प्लुत-ध्वनि

लौकिक साहित्य में साहित्यशास्त्रियों को जो अनेक प्रकार की व्यंजकता प्राप्त होती है, प्राय वे सभी विधाए उपनिषदो मे प्राप्त होती हा है। पर उपनिषत्साहित्य मे लौकिक साहित्य की अपेक्षा अन्य की भी व्यंजकता प्राप्त होती है। कई एक स्थानों पर प्लुतादि द्वारा *व्यग्यार्थ की प्रतीति कराना उपनिषत्साहित्य की अपनी विशेषता है।* कुछ एक उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मान-मुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमां-ल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा३वु हा३वु ॥

—तै० ३.१०

यहा हा ३ वु मे प्लुत से विस्मयातिशय व्यग्य है।

स होवाचाजातशत्रु एतावान्नू ३ इति। एतावद्धीति।
नैतावता विदितं भवतीति।
स होवाच गार्ग्य उप त्वायानीति ॥

—बृ० २.१ १४

—अजातशत्रु बोला, 'क्या इतना ही है?' अर्थात् क्या तुम्हें इतना ही ब्रह्म विदित है या इससे कुछ अधिक?

यहा एतावान्नू३ मे प्लुत से व्यग्य है कि जो कुछ तुम जानते हो यह तुच्छ है। इस प्रकार यहा प्लुत के कारण व्यग्य है।

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एतां गा उदजता-मिति। ...स हैनं पप्रच्छ—त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी ३ इति ...।

—बृ० ३.१.२

उसने उनसे कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! जो ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गौओं को ले जाय।' किन्तु उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ। पर जब याज्ञवल्क्य अपने शिष्य से गौओं को खोलने के लिए कहता है तो ब्राह्मण कुपित होते हैं और याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—'याज्ञवल्क्य! हम सब में क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो? इस प्रकार यहां ब्रह्मिष्ठोऽसी३ में असि पद में प्लुत भर्त्सना को द्योतित करता है कि 'याज्ञवल्क्य तुम्हें धिक्कार है जो तुम इतने अहंकार के साथ इतने बड़े ऋषियों में अपने को ब्रह्मिष्ठ खुद समझ बैठे हो।' इस प्रकार मध्यम पुरुष असि को प्लुत में प्रयुक्त करके भर्त्सना व्यङ्ग्य है।

४
रस

४. १. रस-सिद्धान्त

रस शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता है—(१) पदार्थो का रस—अम्ल, तिक्त आदि (२) आयुर्वेद का रस, (३) साहित्य का रस, (४) मोक्ष या भक्ति का रस। उपनिषदो मे रस शब्द ईश्वर या ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—रसो वै स । रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समानान्तर यह शब्द काव्य मे आत्मानन्द के रूप मे प्रयुक्त होने लगा। जिस प्रकार ब्रह्म, सत, चित्, आनन्द है, इन तीनो का एकीभाव है, ठीक इसी प्रकार काव्य मे वही ब्रह्मानुभव रस है।

रस सिद्धान्त के आदिप्रवर्तक भरत मुनि माने जाते हैं। उनके नाट्य-शास्त्र मे विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति[2] इस रस-विषयकसूत्र का उल्लेख मिलता है। बादमे भट्टलोल्लट, श्रीशकुक, भट्ट-नायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरतसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार हुए हैं। इन्होने सूत्र मे प्रयुक्त संयोग तथा निष्पत्ति शब्दो की अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार व्याख्या की है। इन चारो मे आचार्य अभिनव-गुप्त का मत सर्वश्रेष्ठ तथा निर्दुष्ट स्थिर हुआ। यही कारण है कि उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्रियो ने उन्ही के मत को स्वीकार किया। आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के मत का अनुसरण करते हुए रस की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटयकाव्ययो ॥

---

१. तै० ब्रह्मानन्दवल्ली ७

२. ना० शा० काव्यमालागुच्छक, पृ० ९३

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥[1]

इसी के अनुरूप आचार्य विश्वनाथ रस की परिभाषा देते है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥[2]

रसगगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के स्वरूप को विशद करते हुए रसविषयक ११ मतो का उल्लेख किया है। परन्तु उनको अस्वीकार करते हुए उन्होने रसविषयक अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्थिर किया—

समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ।[3]

पण्डितराज का रसविषयक यह विवेचन भी अभिनवगुप्त के मत पर आधृत है।

वास्तव मे देखा जाए तो आचार्य अभिनवगुप्त के बाद रस की कोई नवीन व्याख्या नही हुई। प्रकारान्तर से सभी आचार्य उन्ही के मत को अपने-अपने शब्दो मे कहते आए। इतना अवश्य है कि भरतमुनि से पण्डितराज जगन्नाथ तक रस क्या है, इस विषय को लेकर

---

१ का० प्र०, ४ २७-२८

२ सा० द०, ३ १

३. र० ग०, चौखम्बा, पृ० ८०

नोकझोक अवश्य होती रही। आचार्य विश्वनाथ रस के काव्यात्मत्व के प्रवल समर्थक हैं। वे रस के अतिरिक्त यहा तक कि ध्वनि को भी काव्य की आत्मा स्वीकार करने को तैयार नही। अत एव रसध्वनि से तो उन्हे कोई असहमति नही, परन्तु वस्तुध्वनि तथा अलकारध्वनि की काव्यात्मकता पर उन्हे आपत्ति है। अत एव उनका परिनिष्ठित काव्य-लक्षण है—

वाक्य रसात्मक काव्यम् ।[1]

---

१. सा० द०, १, २

४. २. रस-विश्लेषण

रस के अन्तर्गत न केवल शृगार, करुण और वीर आदि रसो का ही समावेश है, अपितु रस शब्द से भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता का भी ग्रहण होता है—

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसाः ॥[1]

रसो की सख्या के विषय मे आचार्यों मे मतभेद है। भरतमुनि ने आठ रस स्वीकार किए है—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका।
बीभत्साद्भुतसज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता ॥[2]

आचार्य मम्मट ने—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[3]

कहकर नवम शान्तरस भी स्वीकार किया है।

बाद मे आचार्यों ने वात्सल्य, भक्ति आदि अन्य रस भी स्वीकार किए और उनकी सख्या मे वृद्धि होती गई।

जहा एक ओर रस की संख्या का विस्तार होता गया, वहा कुछ आचार्यों ने उसके सकोच की ओर भी ध्यान दिया। भोजराज ने—

रसोऽभिमानोऽहकारः शृङ्गार इति गीयते,
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।

---

१. सा० द०, ३. २२६
२. ना० शा०, ६. १६
३. का० प्र०, ४. ३५

विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु ।
आत्मा सम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतु प्रकाशते ॥[1]

यह कहकर शृंगार को ही मुख्य रस माना और अन्य रसों को उसका ही विस्तार। इसी प्रकार विश्वनाथ के पूर्वज नारायण ने 'अद्भुत' को ही प्रधान रस माना है।[2] आचार्य अभिनव गुप्त ने मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने के कारण शान्त रस को मुख्य रस स्वीकार किया है।

उपनिषदों का विषय ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष है। अतः इनमें प्रमुख रूप से शान्त रस है। परन्तु ब्रह्म की अज्ञेयता, सर्वव्यापिता, शक्तिमत्ता, विलक्षणता, सर्वनियन्तृत्व आदि के विचित्र रूप से प्रतिपादन के कारण उपनिषदों में अद्भुत रस भी आ गया है। अंग रूप में शृंगार भी कहीं कहीं दिखाई देता है। ऋषि की अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के प्रति रति के दर्शन से, रस के अतिरिक्त उपनिषदों में भाव भी देखने में आता है।

४ २ १ शान्त रस

साहित्यशास्त्रियों के रस की दृष्टि से उपनिषदों में शान्त रस का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, पर मोक्ष विषयक तथा आत्म-विषयक विवेचन होने के कारण उपनिषदों में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

इस विषय में कुछ एक उपनिषद् दर्शनीय हैं।

कठोपनिषद् के ऋषि ने यम और नचिकेता के सम्वाद से संसार की *अनित्यता तथा ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता* का चित्रण किया है। नचिकेता के ये वचन उद्दीपन विभाव के रूप में कितने उपयुक्त हैं—

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

—कठ० १ २६

---

१. शृङ्गारप्रकाश, काव्यमाला, ४ १-२, पृ० ४७४

२ सा० द०, (शालिग्राम सम्पा०) पृ० ४६

यमराज नचिकेता को बार-बार प्रलोभन देता हुआ कहता है—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व . ... ॥

—कठ० १ २३-२५

परन्तु नचिकेता पर उसके इस प्रलोभन का कोई प्रभाव नही पडता, क्योकि वह जानता है कि ये सभी पदार्थ नश्वर है। वह कहता है—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥

—कठ० १ २८

नचिकेता तो अपने तृतीय वर पर ही दृढ है कि उसे मृत्यु का रहस्य ज्ञात हो और शाश्वत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो।

इस प्रकार यहा सासारिक पदार्थो की क्षणभगुरता के ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद भाव की परिपुष्टि होने के कारण शान्त रस है। नचिकेता की तृष्णा का क्षय हो गया है। उसमे शम का प्रादुर्भाव हो गया है। वह ब्रह्मानुभूति तथा मोक्ष का अधिकारी है। अत यमराज उसे मृत्यु का रहस्य समझाता है। यह सम्पूर्ण प्रसग शान्त रस का कितना उपयुक्त उदाहरण है।

इस सन्दर्भ मे रौद्र का भी बीच मे उन्मेष है, जबकि नचिकेता के पिता उस पर रुष्ट होकर कहते है कि 'मैं तुझे यमराज को देता हूँ।' परन्तु यह क्रोध केवल उद्बुद्ध मात्र है और मुख्य रस शान्त का अग है, उसका पोषक है। इस क्रोध का स्वतन्त्र परिपोष नही हुआ है।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सम्वाद मे शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। जैसे—

न वा अरे पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति। न वा अरे ब्रह्मण कामाय ब्रह्म प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रिय भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्र प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्र प्रिय भवति। न वा अरे लोकाना कामाय लोका प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोका प्रिया भवन्ति ।

—बृ० २ ४ ५

इस मन्त्र मे सासारिक पदार्थों की तुच्छता बताकर आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। यहा भी वित्त, माता, पुत्र आदि सभी लौकिक पदार्थों की हेयता प्रदर्शित करके निर्वेद या तृष्णा-क्षयमूलक शान्त का ही परिपाप है।

यहा तो दिड्मात्र निर्देश के लिए एक दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। वस्तुत सम्पूर्ण उपनिषद्-साहित्य म शान्त रस स्रक्-सूत्रन्याय से अनुस्यूत है।

४ २ २. अद्भुत रस

केनेषित पतति प्रेषित मन,
केन प्राण प्रथम प्रैति युक्त।
केनेषिता वाचमिमा वदन्ति।
चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति॥

—केन० १ १

यहा उपनिषदो का ऋषि आश्चर्य मे पडा है। वह इस रहस्य को खोलना चाहता है कि यह मन इष्ट वस्तु के प्रति किससे प्रेरित होकर जाता है? मुख्य प्राण किससे जोडा हुआ विशेषता से चलता है? इस वाणी को किसकी प्रेरणा से लोग बोलते हैं? और, आख को कौन देव कार्यों मे लगाता है?

यह रहस्य और अधिक गहरा हो जाता है, जब ऋषि कहता है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन,
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्॥

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि ।

.. ।।

—केन० १ ३-४

—उस रहस्यमय तत्त्व तक आंख नहीं जाती, न वाणी जाती है और न मन जाता है । कोई किस प्रकार इसका उपदेश करे ? हम नहीं जानते, नहीं समझते हैं क्योंकि वह जाने हुए से निराला ही है और अज्ञात से भी ऊपर तथा भिन्न है ।

उस परम रहस्य को उद्घाटित करना इसलिए भी कठिन है कि वह,

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्, वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण ।

चक्षुषश्चक्षु . ... ।।

—केन० १. २

—कान का कान है, मन का मन है । निश्चय से ही वाणी की वाणी है, और वह प्राण का प्राण है, आंख का आंख है ।

उसे कैसे जाना जाए ?

आत्मतत्त्व की इन्द्रियगतीत सूक्ष्मता का निर्देश करने के लिए ऋषि ने यहां विस्मय के भाव को उद्बुद्ध कर दिया है। वह तत्त्व कैसा है, जिसे हम देख नहीं सकते, सुन नहीं सकते, परन्तु फिर भी वह तत्त्व हमारे में समाया है। इस प्रकार आत्मतत्त्व की श्रोत्रातीतता, प्राणातीतता आदि के वर्णन से यहां अद्भुत रस का परम परिपोष हुआ है।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में भी सूर्य प्राण आदि के वर्णन में सर्वत्र अद्भुत रस की अभिव्यक्ति होती है। जैसे,

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

—प्रश्न० १ ८

तथा,

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ।

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥

—प्रश्न० २. ७

४. ३. भाव

रस के अतिरिक्त उपनिषत्-साहित्य मे 'भाव' की भी सुन्दर निष्पत्ति दिखाई देती है। आचार्य विश्वनाथ ने प्रधानभूत सचारी, देवादिविषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी—इन तीनो को भाव की सज्ञा दी है।[1]

इस दृष्टि से उपनिषदो मे ऋषि की देवादिविषयक रति के रूप मे भाव के दर्शन होते है। जैसे—

> अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
> युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
>
> —ईश० १८

इस मन्त्र मे उपनिषद् के ऋषि की अग्निविषयक रति का वर्णन होने के कारण भाव है।

> स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्।
>
> —केन० ३ १२

इस मन्त्र मे उमा के लावण्य के वर्णन से रति का उद्बोध मात्र होने लगता है, परन्तु आगे विभावानुभावादि की योजना न होने से उसका परिपोष नही हुआ। इस प्रकार यहा केवल रति स्थायी भाव के आलम्बन उमा के वर्णन द्वारा रति का उद्बोध मात्र होने के कारण भाव है।

> अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ—याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति? वायौ गार्गीति। कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेति? अन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति? गन्धर्वलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु गन्धर्व-

---

[1] सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥
(सा० द०, ३ २६०)

लोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? आदित्यलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? चन्द्रलोकेषु गार्गीति । ··· कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? ब्रह्मलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? स होवाच गार्गि ! माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि । गार्गि ! माऽतिप्राक्षीरिति । ··· ॥

—बृह० ३ ६.१

यहा गार्गी का वितर्क कि अन्ततोगत्वा यह सब किसमे ओत प्रोत है, इन सब का अधिष्ठाता कौन है ? यह प्रधान रूप से अजित है । अतः यहा वितर्कभाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है ।

इसी प्रकार,

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

—श्वे० २.४

इस मन्त्र मे ऋषि की सवितृविषयक रति व्यक्त होने के कारण भाव है ।

तथा,

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—श्वे० ३.५

इस मन्त्र मे भी रुद्रविषयक रति की अभिव्यक्ति से भाव है ।

इसी प्रकार श्वे० २.१७, ३.१ तथा ३.४ मे भी देव-विषयक रति होने से भाव माना जा सकता है ।

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि उपनिषदो में शान्त एव अद्भुत रस तथा भाव पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान हैं ।

५

औचित्य

५.१ औचित्य का परिचय

औचित्य का विचार भरतमुनि के समय से ही प्रचलित था, पर काव्यशास्त्र में सिद्धान्त के रूप से उसकी स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने की। औचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

> उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
> उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥
>
> —औ० वि० च० ७

जो जिसके सदृश है, अनुकूल है, वह उचित है। गले में हार, कटि में मेखला, हाथ में कंकण उचित है, क्योंकि हार का उचित स्थान गला, मेखला का कटि तथा कंकण का हाथ है। ये आभूषण उचित स्थान पर धारण किए हुए ही शोभावर्धक होते हैं। इनके धारण में व्यतिक्रम कर देने पर अनौचित्य हो जाता है। हार को कटि में, कंकण को कर्ण में तथा मेखला को गले में धारण करने से अनौचित्य के कारण उपहास होता है। जो वस्तु जिस स्थान पर उचित है उसे उसी स्थान पर रखने से सुन्दरता आती है। स्थान-व्यतिक्रम से वह भूषा के बदले दोष बन जाती है। जैसे क्षेमेन्द्र कहते हैं—

> कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
> पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।
> शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
> औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥
>
> —औ० वि० च० ६

जो बात कटक कुण्डलादि लौकिक अलंकारों के औचित्य के सम्बन्ध में है, वही काव्य में गुण, अलंकार, रीति आदि काव्यांगों के

५.२. औचित्य के भेद

औचित्य काव्य मे सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, उपसर्ग, निपात आदि की व्यजकता के आधार पर ध्वनि के भेद किए है, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य के अनेक भेद प्रदर्शित किए हैं। जैसे—

(१) पदौचित्य (२) वाक्यौचित्य (३) प्रबन्धौचित्य (४) कारकौचित्य (५) लिंगौचित्य (६) वचनौचित्य (७) विशेषणौचित्य इत्यादि ।

क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यो ने अलकार, गुण, रीति, ध्वनि और रस के रूप मे जिस काव्य-सौन्दर्य का विवेचन किया था, उसे इन्होने औचित्य के विभिन्न भेदो के अन्तर्गत समाहृत कर लिया तथा औचित्य को व्यापक सिद्धान्त के रूप मे प्रतिष्ठित किया। जैसा उन्होने कहा—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलकरणे रसे ।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसग्रहे ॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्य व्यापि जीवितम् ॥

—औ० वि० च० ८-१०

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य की ओर केवल उत्तरवर्ती कवियो ने ही ध्यान दिया हो ऐसी बात नही, अपितु वैदिक ऋषियों तथा उपनिषत्कालीन ऋषियो ने भी इस दिशा मे पूर्ण ध्यान दिया। उनकी रचनाओ मे स्थान स्थान पर इन नियमो का पूरा पालन किया गया ताकि कही पर अनौचित्य की गध भी न आने पाए। इस दिशा मे उपनिषदो के अध्ययन से जो देखने मे आया, उससे इस तथ्य की पूर्णत पुष्टि होती है। उपनिषत्कालीन ऋषियो ने

किस प्रकार औचित्य का पालन किया, इसके कतिपय उदाहरण आगे प्रस्तुत है।

५.२.१ पद-औचित्य

केनेषित पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रैति युक्त ।
केनेषिता वाचम् इमाम वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १ १

इस मन्त्र मे केनेषिता वाचम इमाम वदन्ति वाक्य मे इमाम् वाचम् मे इमाम् पद के बिना भी अर्थ ज्ञात हो सकता था कि 'किसको प्रेरणा से हम वाणी बोलते है ?' किन्तु इमाम् पद ने आकर एक अन्य ही चारुता उत्पन्न करते हुए वाणी पर चार चाद लगा दिए, और वाणी साधारण न रहकर अनेकविध गुणयुक्त हो गई, तथा पशुपक्षियो की वाणी से भी उसका पार्थक्य हो गया। ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद पूर्णरूपेण औचित्य का निर्वाह करता हुआ सहृदयो के हृदयो को आनन्दित कर रहा है।

इसी प्रकार,

तस्मै तृण निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशक विज्ञातु यदेतद्यक्षमिति ।

—केन० ३ ६

यहा यक्ष द्वारा अग्नि की परीक्षा का वर्णन है। यक्ष के पूछे जाने पर अग्नि पहले काफी गप्प मार चुकी है कि मैं जातवेदा अर्थात् 'न केवल भूलोक के अपितु अन्तरिक्ष के भी सभी पदार्थों को जलाने मे समर्थ हूँ।' यक्ष उसकी परीक्षा लेता है, उसके सामने तृण फेकता है। यहा तृण शब्द भले तुच्छ हो पर अग्नि को खूब मिट्टी पलीद करने मे समर्थ हो रहा है, तथा अग्नि के शत्रुओ को प्रसन्न करने मे भी समर्थ है। ऋषि यद्यपि काष्ठम इत्यादि का भी प्रयोग कर सकता था, पर उसे अग्नि की अतिशयहीनता दिखलाना इष्ट था, अत अग्नि के सामने तिनका मात्र ही फेका। पर अग्नि की सामर्थ्य का क्या कहना ! वह उसके पास जाकर भी उसको नही जला सकी। इस प्रकार तृण पद यहा अग्नि के असामर्थ्य को प्रकट करने मे अपना औचित्य प्रदर्शित कर पाठको को भी आनन्दित कर रहा है।

एवमेव,

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम् तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥

—केन० ३. १२

यहां हिमालय की पुत्री के लिए हैमवती पद का प्रयोग सचमुच हिमालय को भी आनन्दित करने वाला है। 'पर्वतपुत्री' जैसे शब्दों का प्रयोग यहां हो सकता था, पर हैमवती पद ने हिमालय की पुत्री के साथ स्वर्णमयी का जो अर्थ प्रदान किया, वह विलक्षणता को दिखा रहा है।

और भी,

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्। स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥

—केन० ४ ६

यहां वन पद का प्रयोग ऋषि द्वारा विशिष्ट चमत्कार को पैदा करने के हेतु ही प्रयुक्त किया गया है। पाणिनि के अनुसार √वन् संभक्तौ धातु से वन की निष्पत्ति है। ऋषि द्वारा यहां √भज् धातु का प्रयोग भी किया जा सकता था। किन्तु, भज् धातु में भक्ति-भाव का वह औचित्य विद्यमान नहीं जो वन धातु के प्रयोग में आता है।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

—कठ० १ १२

यहां नचिकेता भूलोक की अपेक्षा स्वर्गलोक की विशेषता बताते-बताते स्वर्ग में जहां अनेक पदार्थों का निषेध करता है, वहां यम का भी निषेध करता है कि 'वहां तू (मृत्यु) भी नहीं'। किन्तु, यम का निषेध वह 'भवान्' इत्यादि पदों से भी कर सकता था। पर उसने त्वम् पद का ही प्रयोग किया जो कि यमराज की निरंकुशता का स्पष्ट रूप से बताता हुआ सम्पूर्ण मन्त्र में चमत्कृति पैदा कर रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में भय उत्पन्न करने वाले यम को त्वम् पद से कहने पर चमत्कारपूर्ण औचित्य से नचिकेता अपने भाव को व्यक्त करने में सफल हो जाता है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठ० २ ५

यहां अज्ञानियों के विषय में ऋषि अपने विचार प्रकट करता है। अज्ञानी अपने अज्ञान को छिपाने के लिए किस प्रकार दनदनाते हैं, इसकी अभिव्यक्ति के लिए ऋषि ने दन्द्रम्यमाण पद का प्रयोग किया। चाहे वे कितने ही दनदनाएं, पर ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद उनकी मूर्खता प्रकट कर, सहृदयों के हृदय में जो चमत्कृति पैदा कर रहा है उससे कवि का यह प्रयोग सर्वथा औचित्य का निर्वाह कर रहा है।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥

—श्वे० ५ ३

यहां ऋषि ने जिस चतुराई से जाल शब्द का प्रयोग किया उससे केवल पाठक ही नहीं, अपितु अनेक टीकाकार भी अनेकविध भाष्य करने के जंजाल में फंसे हुए दिखाई देते हैं। सचमुच जाल जब पानी में फेंका जाता है, तो मछलियों को क्या पता कि यह हमें फंसाने के लिए है। वे तो उसमें बन्धे हुए लोहे के गोलों को अपना खाद्य समझती हैं और झट से उस ओर दौड़कर उसमें फंस जाती हैं। इसी प्रकार यह संसार—मायाजाल—भी सम्पूर्ण प्राणियों को जिस चतुराई के साथ फंसाता है, उसे व्यक्त करने के लिए ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद सर्वथा औचित्य का निर्वाह करता हुआ इस मन्त्र में चमत्कृति उत्पन्न कर रहा है।

५ २ २ वाक्य-औचित्य

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठ० २ ५

यहां अविद्या में विचरण करने वाले अज्ञानियों द्वारा अपने को ज्ञानी समझ कर दूसरों को उपदेश दिए जाने की स्थिति का वर्णन करते हुए ऋषि ने दोनों के लिए बहुत उचित ढंग से अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा वाक्य का प्रयोग किया है। औचित्य तो यही है कि कहीं चौराहे पर भीड़-

भडाके के बीच एक अन्धा यदि दूसरे अन्धे का हाथ पकडकर पार कराने का दम्भ भरे तो क्षण भर मे उन दोनो की क्या स्थिति होगी ? यह बात वहा उपस्थित जनसमुदाय से छिपी न रहेगी । इसी प्रकार अज्ञानियो द्वारा अज्ञानी जनता को सही मार्ग पर ले जाने का दम्भ भरने से दोनो की स्थिति क्या होगी ? उसका सुन्दर चित्र ऋषि ने उचित रूप मे यहा खीचा है, जो कि पूर्णत चमत्कृति पैदा करता हुआ मन्त्र को सहृदयो के हृदय का हार बना रहा है ।

> उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
>
> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥
>
> —कठ० ३ १४

यहा ऋषि प्रतिपल अज्ञान मे जागकर ज्ञान की ओर उन्मुख होने के साथ साथ यहा प्राप्ति के मार्ग की स्थिति का भी वर्णन कर रहा है । ऋषि ने बडी सूझबूझ से उस मार्ग को छुरे की धार कहा है । वह भी निशिता अर्थात् तेज छुरे की धार । वैसे तो छुरे की साधारण धार पर चलना ही कठिन है, उस पर भी वह तेज हो तो उसका कहना ही क्या ? इसी प्रकार उस मार्ग पर जाना तो दूर रहा, सुनते ही कितने तो भयभीत हो जायेंगे । पर डरने की कोई बात नहीं । ऋषि ने बडे ही औचित्य के साथ इसका निर्वाह किया कि तेज छुरे की धार के समान कठिन होने पर भी उस मार्ग पर गमन किया जा सकता है । पर कब ? यदि कोई सोते-जागते उस पर चलने का अभ्यास करे । जिन्होंने अभ्यास किया है वे छुरे की पैनी धार पर भी बडी सरलता से चल पडते हैं । इस प्रकार ऋषि द्वारा प्रयुक्त वाक्य साधको को उस कठिन मार्ग की ओर प्रेरित करता हुआ यहा चमत्कृति उत्पन्न कर रहा है । यही यहा औचित्य है, जो कि सम्पूर्ण वाक्य मे ओत प्रोत है ।

५.२ ३. अलकार-औचित्य

> अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
>
> सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाजायते पुन ॥
>
> —कठ० १ ६

यहा मर्त्य उपमेय तथा सस्य उपमान है । उपमेय-उपमानभाव से ऋषि द्वारा दोनो का साम्य जिस औचित्य के साथ दिखाया गया,

तथा उससे जो मनुष्य की विनाशशीलता का ज्ञान हुआ, वह एक विचित्रता लिए हुए है। दैनंदिन व्यवहार मे आने वाले सस्य की उत्पत्ति तथा विनाश से मनुष्य की उत्पत्ति तथा विनाश को ऋषि द्वारा किस अनोखे ढग से समझाया गया है। जगलो मे रहने वाला ऋषि इसी प्रकार के उपमान उपस्थित कर सकता था। यदि वह अन्य उपमान उपस्थित करता तो वहा वह औचित्य न रहता।

इसी प्रकार,

> यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदन ।
> मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र स ॥

—कठ० २ २५

यहा ऋषि, परमात्मा की शक्ति के वर्णन मे जिस औचित्य से ब्रह्म और क्षत्र के साथ ओदन और मृत्यु के उपसेचन की उपमानता का वर्णन करता है, उससे स्वभावत मन्त्रार्थ मे चमत्कृति पैदा हो रही है। सम्पूर्ण धर्मों के आश्रय ब्राह्मण, और सारे विश्व के रक्षक क्षत्रिय, दोनो जिसके लिए ओदन अर्थात् पके हुए चावलो के समान है। इतना ही नही सारे ससार को भयभीत कर देने वाली मृत्यु भी जिसके लिए शाकादि के समान है, ऐसा वह सत्त्व है। जिन्होने दाल के साथ भात को खाया है वे अनायास ही समझ गए होगे कि दाल-भात को खाने मे व्यक्ति को तनिक भी कठिनाई नही पडती। वह जिस आनन्द तथा सरलता से उसे खाता है उसके आनन्द को दाल भात को खानेवाला ही जानता है। ऋषि ने अपने जीवन मे ऐसा अनुभव न जाने कितनी बार किया होगा, साथ ही अन्य व्यक्तियो ने भी। पर ऋषि की उस नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा उनका उपयोग यहा ब्रह्म की शक्ति के प्रदर्शन मे जिस विचित्रता के साथ हुआ है वह विचित्रता ऋषि के इस उपमा-औचित्य को दाद देती है।

> अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा
> सदा जनाना हृदये सनिविष्ट ।
> त स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीका धैर्येण
> त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

—कठ० ६ १७

यहा जीव के हृदय मे स्थित अगुष्ठमात्र अन्तरात्मा को हृद्देश से पृथक् करने के लिए जिस ढग से उपमालकार का सहारा लिया गया, वह एक ऋषि के लिए उचित है। मूंज से सीक को जिन्होने पृथक् होते देखा होगा वे समझ गए होगे कि यद्यपि मूंज सीक पर चिपकी रहती है, तथापि जब उसको पृथक् कर लिया जाता है तो सीक का वह शुद्ध रूप सामने आ जाता है। इसी प्रकार वह अन्तरात्मा शरीर से सम्बन्धित होता हुआ भी मननता से पृथक् किया जाता है। इस प्रकार सीक और मूंज की उपमानता का औचित्य इस मन्त्र मे प्राण फूंक रहा है।

अरा इव नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।

—प्रश्न० २ ६

आज के युग मे भले ही यह बात अटपटी लगे कि एक कवि इस प्रकार बैलगाडी के अगो के उपमेय-उपमान भावो को ग्रहण करके पाठको का कोई वस्तु समझाए। पर उस समय का ऋषि जब न मोटर थी न कार, यदि नित्यप्रति, सभी के जीवन मे प्रयुक्त होने वाली बैलगाडी के अगो द्वारा प्राण तथा अन्य वस्तुओ के अगागिभाव को समझाता हुआ दीखता है तो वह औचित्य ही है। नाभि मे अरे जिस ढग से जुडे रहते हैं, उस पर आधारित होते है, उसी प्रकार प्राणो पर अन्य वस्तुओ की आधारता का उपमा द्वारा वर्णन पूर्णत औचित्य का निर्वाह करता हुआ अर्थ मे विच्छित्ति पैदा कर रहा है।

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय सभवन्ति।
यथा सत पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सभवतीह विश्वम्॥

—मु० १ १ ७

यद्यपि मकडो द्वारा जाला बनाया जाना सभी के द्वारा देखा जाता है, पर अक्षर ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होने की बात को इस प्रकार समझाया जाना एक अपूर्वता है। ब्रह्म द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बताने के लिए जो उपमा ढूंढी गई है, वह एकदम स्वरूप के अनुरूप होने से, इसमे पूर्णत औचित्य का निर्वाह हो रहा है। एकमात्र चेतन ब्रह्म सृष्टि को उत्पन्न कैसे करता है? वेदान्ती इस दिशा मे विवर्तवाद का नारा लगाते तो हैं, पर समझाया है ऋषि ने। जिस प्रकार जाले के

प्रति मकडी चैतन्य की दृष्टि से निमित्त कारण है, और निमित्त कारण होने से उसके चेतनता आदि गुण जाले मे नही आते, और शरीर रूप से उपादान कारण होने से, शरीर के जडता इत्यादि गुण उसमे आ जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य की दृष्टि से ससार के प्रति निमित्त तथा माया की दृष्टि से उपादान कारण है। इस प्रकार इतने गम्भीर अर्थ को केवल मकडी की उपमा से समझाने मे ऋषि ने जिस अलकार-औचित्य को अपनाया उससे दार्शनिकता के साथ साथ साहित्यिकता भी इस मन्त्र मे अपना विशिष्ट स्थान बना गई।

अह वृक्षस्य रेरिवा। कीर्ति पृष्ठ गिरेरिव। ऊर्ध्वं पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणॅ सवर्चसम् सुमेधा अमृतोऽक्षित ।

—तै० १ १०

यहा त्रिशकु का वेदानुवचन आत्मा की श्रेष्ठता तथा गरिमा को पर्वत के शिखर के उपमान से वर्णित पाठको के सामने उसका चित्र-सा खीच रहा है। प्रथम तो पर्वत ही विशाल होते हैं, उसमे भी उसके शिखर हो तो उनकी ऊँचाई और भी अधिक होगी ही। उपमालकार का कितना सुन्दर औचित्य ऋषि की बुद्धि मे कल्पित हुआ है।

तिलेषु तैल दधनीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

तिलो मे तेल, दही मे घी, स्रोतो मे जल तथा काष्ठ मे अग्नि की उपमा से आत्मा की आत्मा मे सत्ता बताना ऋषि की अपनी सूझ-बूझ है। उदाहरणो की यह चमत्कृति दर्शन जैसे नीरस विषय को भी साहित्यिकता प्रदान कर सहृदयो को इस ओर उन्मुख कर रही है। अत उपमानो का यह औचित्य कमनीय कान्ता के कलेवर पर यथास्थान पहने अलकारो की छटा की याद दिलाता है।

त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

—श्वे० २ ८

यहा ब्रह्म रूपी उडुप (नौका) द्वारा भयानक स्रोतो को पार करने का उपदेश सासारिक व्यक्तियो के लिए सुन्दर औचित्य का निर्वाह

कर रहा है। यहा स्रोतों को पार करने के लिए उडुप का सहारा लेना उचित रूप से कहा गया है। क्योंकि स्रोत का तात्पर्य है छोटी नदिया, और उडुप छोटी नौका होती है। अत स्रोतो को पार कराने मे उडुप समर्थ हो जाती है तो सासारिक बधनो से विरक्ति दिलाने मे आत्मज्ञान समर्थ हो जाता है।

> प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्ट क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
> दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेन विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्त ॥
>
> —श्वे० २ ९

यहा मन को वश मे करने का उपदेश है। आहार-विहार द्वारा निरोध कर जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय, तब मन की वृत्तिया शीघ्र ही वशीभूत हो जाती हैं। उसके लिए दुष्ट अश्व का उपमान बडे औचित्य के साथ दिया गया है। बिगडे हुए घोडे को कैसे वशीभूत किया जाता है, यह एक सारथि बडी अच्छी प्रकार से जानता है। उस को भी पहले शरीर मे क्षीण करना पडता है। इस प्रकार दुष्ट अश्व को वश में करने के समान मन का वश मे करने की बात को जिस ढग से प्रस्तुत किया गया उससे यहा और भी अधिक चमत्कार झलक रहा है।

> यथैव बिम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय भ्राजते तत्सुधौतम् ।
> तद्वात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एक कृतार्थो भवते वीतशोक ॥
>
> —श्वे० २. १४

—मृत्तिका से मलिन हुआ सोने या चादी का टुकडा शुद्ध करने पर जैसे अपने शुद्ध स्वरूप को धारण कर लेता है, इसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है।

सचमुच शरीर क्या है? एकमात्र मृत्तिका। इस प्रकार शरीर के लिए मृत्तिका तथा जीव के लिए सुवर्ण इत्यादि का प्रतीक देना ऋषि की अपनी कवित्व शक्ति का सामर्थ्य है, जिसके सामने वेदान्त के गहन तत्त्वों को समझाने के लिए इस प्रकार के उपमान उचित रूप से अहमहमिकया उपस्थित हो रहे हैं। सच बात तो यह है कि अन्य वस्तुओं पर भले ही मिट्टी का प्रभाव हो जाय पर सुवर्ण पर मिट्टी का कदापि प्रभाव नहीं होता। मिट्टी से लिप्त सुवर्ण के टुकड़े को साफ करो तो वह एक-दम अपने चमकीले स्वरूप को धारण कर लेता है। इसी प्रकार देह के

अन्दर विद्यमान होने पर भी जीव पर देह के गुणो का कोई प्रभाव नही। ऋषि ने इस सरल उपमेय-उपमान भाव के द्वारा जिस गहन तत्त्व को समझाने का यत्न किया उससे यहा अर्थ मे साहित्यिकता का पुट तो आया ही है, उसके साथ-साथ यह औचित्य का भी सुन्दर उदाहरण बन गया।

> घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
>
> —श्वे० ४ १६

यहा ऋषि द्वारा प्रयुक्त घृत और मण्ड के समान शिव का स्वरूप उपस्थित करना एक विशेषता रखता है। नित्य प्रति गृहस्थियो द्वारा दधि इत्यादि के मन्थन तथा मक्खन से घी निकालने की प्रक्रिया देखी जाती है। पर, ऋषि ने उन्ही उपमानो से जिस गहन तत्त्व को जिस औचित्य से समझाया वह ज्ञानियो के अनुकूल होने के कारण हृदय को चमत्कृत कर देने वाली अपूर्व ही चारुता को प्रकट करता है।

५ २ ४. विशेषण औचित्य

> तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥
>
> —केन० ३. ६

जब यक्ष अग्नि के सम्मुख एक तिनका जलाने के लिए डालता है, और कहता है कि 'ले, जला इसको', अग्नि एकदम बडे जोर के साथ उस तिनके के पास जाती है। यहा सर्वजवेन क्रियाविशेषण ने अग्नि की जो दुर्गति की, वास्तव मे अपने मुँह से अपनी बडाई करने वालो की ऐसी दुर्गति का वर्णन उचित ही है। ऋषि केवल जवेन इतना मात्र भी कह सकता था, पर सर्व ने उसके साथ जुडकर इस दिशा मे औचित्य का जो निर्वाह किया और अर्थ को चमत्कारपूर्ण बनाया तथा अग्नि के सामर्थ्य को तुच्छ बताया, उसका कोई अन्य उदाहरण नही। तिनका-मात्र जलाने के लिए जोर से ही नही, पूरे जोर से आग का उसके पास जाना उसके लिए लानत के सिवाय और क्या हो सकता है? ऋषि को यही बताना अभिप्रेत है। इसी मे विशेषण का औचित्य पूर्ण है।

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ।
ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

—केन० ४. १

अग्नि, वायु तथा इन्द्र के पारस्परिक झगड़े में हैमवती देवी द्वारा मध्यस्थता करने पर उस द्वारा सुनाए गए निर्णय की मानो यह प्रति-लिपि है। ब्रह्मणो विजय—'ब्रह्म की विजय हुई है' इतने मात्र से ही निर्णय दिया जा सकता था। पर ऋषि ने सोच समझ कर यहां एतद पद को विजये का विशेषण बनाकर मानो अग्नि इत्यादि के मुंह पर औचित्य की चपत मारी है कि बिना एतद विशेषण जोड़ इनका अपमान नहीं हो सकता। अब एतद विशेषण द्वारा जिस औचित्य से चमत्कारपूर्ण अर्थ का प्रादुर्भाव हुआ, वह इस प्रकार है कि 'यह ब्रह्म की ही विजय है। यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है, यह तो तुम्हारा मिथ्या अभिमान ही है।'

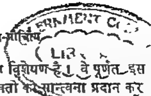
तदेतत् प्रेय पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मन प्रिय ब्रुवाण ब्रूयात् प्रिय रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मान-मेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रिय प्रमायुक भवति।

—बृ० १ ४. ८

जो आत्मारूप प्रिय की उपासना करता है, वह प्रमायुक होता है। यहां प्रमायुक विशेषण जिस औचित्य के साथ ऋषि द्वारा रखा गया, वह एक विशेष ही अर्थ की प्रतीति करा रहा है। प्रमायुक में उक प्रत्यय है, जो तच्छील अर्थ में होता है। ऐसी स्थिति में पदार्थ अपने स्वभाव का एकदम त्याग नहीं सकता, इसलिए प्रमायुक नहीं होता। यहां प्रमायुक कथन में प्राणादियों का आत्यन्तिक प्रमरण विवक्षित नहीं, अपितु यहीं समझना चाहिए कि वे दीर्घजीवी हो जाते हैं। इस प्रकार यह छोटा सा विशेषण बड़े औचित्य से विस्तृत ज्ञान का द्योतक होने से यहां चमत्कृति पैदा कर रहा है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—श्वे० ३. ५



यहा तनू शिवा और शान्त विशेषण है। वे पूर्णत इस प्रसग मे औचित्य का निर्वाह करते हुए भक्तो को सान्त्वना प्रदान कर रहे हैं कि ठीक है कि वह पर्वत पर रहता है, पर वहा रहते हुए भी वह कठोर नही हो गया, अपितु पर्वत पर रहते हुए भी जन-जन के कल्याण मे रत रहता है। वह रुद्र अवश्य है, पर उसकी मूर्ति शिवा है घोरा नही, अघोरा है। अघोरा से तात्पर्य अविद्यादि से रहित अविद्यादि से रहित होने पर काम, क्रोध, द्वेष इत्यादि भावो से रहित होने से कल्याणमयी है। इसलिए गिरिशम् भी कहा गया है। इस प्रकार विश्व का कल्याण चाहने वाले ऋषि द्वारा उस रुद्र के लिए इस प्रकार के विशेषण, उसके (रुद्र के) गुणो मे चमत्कृति प्रदान कर रहे हैं। अत विशेषणौचित्य का यह सुन्दर उदाहरण चमत्कराधायक है।

५.२.५ लिंग-औचित्य

ईशावास्यमिद सर्वं यत्किच जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद धनम् ॥

—ईश० १

यहा यत किंच मे सामान्य मे नपुसक लिंग का प्रयोग समग्र ब्रह्माण्ड के चित्र को उपस्थित कर रहा है, जो कि पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग के प्रयोग से सम्भव न था। इस प्रकार जिस चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति यहा हुई है वह लिंग के औचित्य का ही परिणाम है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—केन० ३. ४

यहा तद् अभ्यद्रवत् मे तद् यक्ष के लिए सर्वनाम है। यक्ष पुलिंग है। पर यहा ऋषि ने पुलिंग का प्रयोग न करके नपुसक का सामान्य मे प्रयोग किया है। ज्योही अग्नि के लिए कहा गया कि *'देखो सामने जो वस्तु खडी है तुम उसके पास जाओ', अग्नि उसके* पास गई। निश्चय है कि अग्नि को यह ज्ञान नहीं था कि यह कौन है। यदि उसको यह ज्ञान होता कि वह इतना सामर्थ्य युक्त है तो उसके सामने डींग न मारती कि 'मैं केवल अग्नि ही नही अपितु जातवेदा हूँ।' ऋषि ने उसकी इस अनभिज्ञता को प्रकट करने के लिए यहा सामान्य मे नपुसक लिंग का प्रयोग किया है, जो कि आपातत भले ही

विशिष्टार्थवाची प्रतीत न हो रहा हो, पर जब सहृदय इस पर विचार करते हैं तो निश्चय ही उनको इसमें लिंगौचित्य के कारण चमत्कृति-पूर्ण भाव की प्रतीति अनुभव होती है।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति।
—केन० ३ ५

यहाँ यक्ष द्वारा पूछे जाने पर कि 'बताओ कितनी शक्ति रखती हो ?' अग्नि दनदनाते हुए उत्तर देती है, 'संसार में जो कुछ है सब को जला सकती हूँ।' यहाँ मानो अग्नि ने इसमें अपना अपमान समझा कि इसने (यक्ष ने) मुझ से ऐसा प्रश्न क्या किया। अत अपने पराक्रम को बताने के लिए यद् इदम् पद का प्रयोग अग्नि द्वारा किया गया। अर्थात् संसार में जो कुछ है मेरे लिए वह तुच्छ है, नगण्य है, मैं सभी को समान देखती हूँ। यहाँ तक कि तुम (यक्ष) भी इस समय इस पृथिवी पर ही विद्यमान हो, अत तुम्हारी भी उसी में गणना की जा सकती है, बस समझ लो कि तुम्हारे समेत सब कुछ जला सकती हूँ। इस प्रकार इस नपुंसक लिंग में प्रयुक्त यद् इदम् पद से जिस अर्थवैचित्र्य की प्रतीति हो रही है, वह स्यात अन्य लिंग में प्रयुक्त पद द्वारा न होती। अत अग्नि के अहंकार को व्यक्त करने में यह नपुंसक में प्रयुक्त पद पूर्ण सहायता प्रदान करके अपना स्थान उचित रूप से बनाए हुए है।

५ २ ६ वचन औचित्य

केनेषितं पतति प्रेषितं मन , केन प्राण प्रथम प्रैति युक्त ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षु श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥
— केन० १ १

यहाँ प्राण शब्द को एकवचन में ऋषि द्वारा बड़े औचित्य के साथ प्रयुक्त किया गया है। भले ही कवियों को प्राण शब्द में बहुवचन अपेक्षित रहता हो, पर ऋषि को यहाँ प्राण शब्द की बहुवचनता अनौचित्य के मार्ग पर खींच लायेगी। ऋषि उस तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न कर रहा है जो शरीर के विभिन्न अंगों को प्रेरित करता है। उनमें से प्राण भी एक है। पर अन्य प्राण—अपान, व्यान, उदान, समान—तो किसी प्रकार धारण किए भी जा सकते हैं, किन्तु वह प्रधान प्राण, बिना चेतन के धारण नहीं किया जा सकता। इसलिए यहाँ पाचों प्राणों की स्थिति

के विषय मे प्रश्न न करके एकमात्र प्रधान प्राण के विषय में प्रश्न होने से प्राण मे एकवचन उचित है, जो कि बहुवचन की अपेक्षा एक-वचन मे ही ऋषि के भाव को अभिव्यक्त करने मे समर्थ होकर चमत्कारपूर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीद सर्वं दहेय यदिद पृथिव्यामिति ।

—केन० ३ ५

यहा यद् इदम् मे लिंग-गत वैचित्र्य तो है ही, पर वचन-गत वैचित्र्य उसमे चार चाद लगा रहा है । नपुसकलिंग मे प्रयुक्त होने पर भी यदि यानि इमानि इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग हो जाता तो मानो काव्य की आत्मा का ही हनन हो जाता। बहुवचन मे वह भाव तथा वह *उक्ति-वैचित्र्य* कहा, जो एकवचन मे *निहित है* । अत वचनगत औचित्य ने कवि के उस भाव को और भी विचित्रता के साथ प्रकाशित कर दिया जिसको ऋषि यहा दिखाना चाहता था ।

इमा रामाः सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरण माऽनुप्राक्षी ॥

—कठ १ २५

यहा यम और नचिकेता का सम्वाद है । नचिकेता ने यम से आत्म-तत्त्व बताने के लिए कहा और सोचा कि आज ही तो मौका है जब इसका रहस्य खुलेगा कि यह आत्मा मरने के बाद कहा जाता है । पर यम इस रहस्य को न बताकर नचिकेता को इसके विनिमय मे ससार के सभी पदार्थो को देने के लिए तैयार है। जब उसने देखा कि नचिकेता कुछ भी नही चाहता तो यम ने अपना एक तीर और चलाया, वह था अप्सराओ की प्राप्ति । कौन ऐसा होगा जो ससार मे रह कर शृङ्गार से वचित रहे । नचिकेता भले ही बच्चा है, पर यमराज यह भली भाति समझता है कि उसने युवा भी होना है। अत यम अपने प्रासाद मे उपस्थित अप्सराओ की ओर सकेत करता हुआ नचिकेता से कहता है—'देख ये सामने बैठी हुई हसीना हैं, तू जितनी चाहे ले ले । ये एकमात्र मेरे द्वारा ही उपभोग्य हैं, और किसी के द्वारा नही ।'

यहा यम ने इमा रामा मे बहुवचन का प्रयोग किया है। यह यम की उदारता नही कि वह एक के स्थान मे अनेक अप्सराए देना चाहता है, अपितु यह उस समय का औचित्य है। यम ने उसको इच्छा पर छोड दिया कि एक नही, दो नही, अपितु जितनी चाहे अप्सराए ले जा। इसमे यम की उदारता प्रकट नही हो रही, अपितु आत्म-तत्त्व को न बताने की उसकी भावना प्रकट हो रही है। उसके दिल मे मलिनता है। इस प्रकार यहा बहुवचन जिस चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति कर रहा है, उसको एक या द्विवचन प्रकट नही कर सकता था।

> एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभि ।
> प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥
>
> —श्वे० ३ २

यहा भुवनानि मे बहुवचन ब्रह्म की उस सामर्थ्य को चमत्कारपूर्ण ढग से पाठको के सामने उपस्थित कर रहा है, जिससे ब्रह्म की अद्वितीय शक्ति का भी बोध हो और पाठको के हृदय मे चमत्कृति भी उत्पन्न हो।

५ २ ७ प्रत्यय-औचित्य

> गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा ।
> शत मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयमिति ॥
> गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥
>
> —ऐत० २.१ ५

इस मन्त्र मे कहा है कि गर्भ म शयन करता हुआ ही वामदेव बोला। यहा √शीड्+शानच् का शयान रूप प्रत्यय-गत औचित्य है। प्रथम तो यह वैशिष्ट्य है कि कोई गर्भ से ही ऐसा बोले। साधारणत तो बच्चे गर्भ से बाहर आकर बहुत समय तक नही बोलते। पर मान लिया कि उनमे विलक्षणता थी, इसलिए गर्भ म ही बोल पडे। कपिल को भी कुछ ऐसा ही ज्ञान गर्भ मे हो गया था। पर यहा तो गर्भ मे भी वे 'सो-से' रहे थे। ऋषि यहा शानच् का प्रयोग करके आलोचना से बच गया। वे पूरी तरह सो नही रहे थे, अपितु सो-से रहे थे। इस प्रकार वामदेव की विशिष्टता बताने के लिए ऋषि द्वारा प्रयुक्त शानच् प्रत्यय निष्पन्न शब्द यहा एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति करा रहा है।

५.२.८. निपात-औचित्य

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति । ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

—केन० ४ १

यहां वा निपात एव के अर्थ में प्रयुक्त है। चाहे कुछ हो एक बार तो इस वा ने ब्रह्म का पलड़ा भारी तथा देवताओं का सिर नीचा कर ही दिया। इस मन्त्र में ऋषि द्वारा प्रयुक्त वा निपात देवताओं का पतन तथा ब्रह्म का यश दिखाता हुआ विशिष्ट अर्थ की प्रतीति करा रहा है कि ब्रह्म की ही यह विजय है, न कि तुम्हारी अर्थात् देवताओं की।

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रुं काश्यम्—ब्रह्म ते ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रु —सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः, जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥

— बृ० २ १ १

यहां पर वै निपात जनक की प्रसिद्धि को उतनी ही विचित्रता के साथ प्रकट कर रहा है जितनी प्रसिद्धि जनक शब्द की द्विरुक्ति। यह ठीक है कि जनक दानी के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर वै ने उसमें सोने में सुगन्ध वाला कार्य करके जिस चमत्कारपूर्ण ढंग से औचित्य का निर्वाह किया, सहृदयों का हृदय उससे आप्लावित हो उठता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वे० २ १५

यहां आत्म-तत्त्व से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है, इस भाव की अभिव्यक्ति में तु निपात ने ऋषि की सहायता की है। स्यात् ऋषि को तु रखते समय स्वयं भी इसका ध्यान न रहा होगा। तु निपात ने उनके मुंह पर मानो चपेट मारी है, जो परमात्मा को आत्मा के अतिरिक्त मन व इन्द्रिय से जानने की चेष्टा करते हैं। अतः तु निपात ने जिस चतुराई से मैदान से आत्मा के विरोधियों को दूर भगाया उससे औचित्यपूर्ण जिस अर्थ की प्रतीति यहां हो रही है, वह क्या बिना तु निपात के संभव थी?

अजात इत्येव कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥

—श्वे० ४ २१

यहां अजात के साथ इति निपात अपना पूर्ण सौहार्द दिखाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। यह ठीक है कि ब्रह्म अजात है, पर इति ने यहां उसकी सहायता की है। अजात को किसी के साथ लड़ना नही पड़ा कि एकमात्र मैं ही अजात हूँ, और अजात होने से नित्य हूँ। अपितु इति ने यह सिद्ध कर दिया कि 'आत्मा ही एक मात्र नित्य है, अन्य सब कुछ अनित्य'। अतः इति जिस औचित्य से अपना कार्य सम्पादन कर रहा है, उससे उसकी उपस्थिति पाठकों के मन को रंजित करने वाली है।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

—श्वे० ६ १

यहां महिमा के साथ विराजमान तु निपात उचित स्थान पर पड़ा हुआ ऋषि द्वारा वर्णित ब्रह्म की शक्ति का औचित्य प्रदर्शित कर रहा है।

ठीक है इस संसार के प्रति क्या कारण हो सकता है, इसके उत्तर में सभी अपने अपने विचारों के जगत में विचरण कर सकते हैं। काल स्वभाव इत्यादि को इस मैदान में खींच कर लाया जा सकता है। पर यहां तु निपात इसका निर्णय कर देता है। यद्यपि भगवान् सामर्थ्यवान् है, पर सच यह है कि यहां तु ने भगवान के उस सामर्थ्य को, जिस में उसकी संसार के प्रति कारणता सिद्ध हो जाय, अत्यधिक सहायता प्रदान की है कि 'चाहे कोई कुछ मान ले पर यह तो देव की ही महिमा है कि वह इस चक्र को चला रहा है।' इस प्रकार उचित स्थान पर प्रयुक्त यह तु निपात सभी विकल्पों को दूर करके ईश्वर मात्र के लिए मैदान साफ कर रहा है जिससे यहां अर्थ में एक विच्छित्ति सी आ गई है।

५२.६ नाम-औचित्य

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥

—कठ० ६ १

यहा अश्वत्थ नाम पिप्पल के लिए तथा इसके साथ-साथ ससार के लिए दिया गया है। यह नाम ससार की अनित्यता को जितने उचित ढग से प्रतीति करा रहा है, स्यात् ही अन्य कोई नाम करा सके। श्व तिष्ठतीति 'श्वत्थ', न श्व तिष्ठतीति 'अश्वत्थ'। कितनी सूझबूझ से यह नाम अपनाया गया है। ससार की यही तो अनित्यता है कि वह कल रहे या न रहे। बौद्धो ने तो उसको प्रतिपल ही बदलने वाला माना है। पर अश्वत्थ नाम ने जहा ससार की परिवर्तनशीलता द्योतित की, वहा बौद्धो के हाथ से उसको बचा लिया, क्योंकि इस अश्वत्थ के मूल, शाखा इत्यादि विद्यमान है। अत अश्वत्थ नाम ससार की जिस चमत्कारपूर्ण ढग से व्याख्या कर रहा है, उसमे ऋषि की उस भावना का ज्ञान होता है कि वह ससार को किस दृष्टि से देखता है, तथा कितनी सरलता से सासारिक जनो को उसका ज्ञान कराता है।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवा गिरित्र ता कुरु मा हिंसी: पुरुष जगत् ॥

—श्वे० ३. ६

यहा शिव के लिए गिरित्र नाम दिया गया है। गिरि त्रायते इति गिरित्र। जो उन पहाडो की भी रक्षा करने वाले है जो कि जड है, तो फिर वे शकर अपने भक्तो की रक्षा क्यो नही करेंगे, अपितु अवश्य करेंगे। लोक में भी जो पत्थर-हृदयो तक की सहायता करता हो, उनकी कल्याण-कामना करता हो, वह सहृदयो की भला सहायता न करेगा ? इस प्रकार गिरित्र नाम शकर के कार्य के औचित्य को जिस ढग से प्रस्तुत कर रहा है उससे अर्थ में एक विशिष्ट चमत्कार आ गया है।

५ २ १० क्रिया-औचित्य

ईशावास्यमिद सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद् धनम्॥

—ईश० १

ऋषि ने जिस खूबी के साथ यहा गृध् धातु को उचित स्थान पर प्रयुक्त किया है, उससे मन्त्रार्थ मे सहृदयो के हृदय को आह्लादित करने वाली चमत्कृति दिखाई देती है। यहा √याच इत्यादि धातु का भी प्रयोग किया जा सकता था पर अन्य धातुओं मे ऋषि के अभिप्रेत अर्थ का प्रकट करने की सामर्थ्य ही कहा ! ऋषि का तो अभिप्राय है कि मागना तो दूर रहा, त मागने की इच्छा भी मत कर। अर्थात् किसी दूसरे के धन की इच्छा करना भी अज्ञान है, दोष है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते॥

—केन० १ ६

यहा मनुते का मनस के साथ उचित प्रयोग अर्थ मे विच्छित्ति पैदा कर रहा है। √ज्ञा इत्यादि धातुओ मे यहा उस अर्थ को उत्पन्न करने का वह सामर्थ्य नहा जो मनुते मे प्रतीत हो रहा है। यद्यपि मन का काम मनन करना है, उसका वह धर्म है पर आत्मा के सामने औरों की तो क्या, मन भी अपने काय को नही कर सकता। ज्योही वह आत्मा को जानने की चेष्टा करेगा स्वय समाप्त हो जायेगा। क्योकि, आत्मा सर्वोपरि है और वहा तक पहुँचते पहुँचते सब की सत्ता समाप्त हो जाती है—इसी अर्थ का प्रकट करने के लिए ऋषि द्वारा मनुते का प्रयोग बडी सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति।

—केन० ३ ४

परिचय ता सभी पर दूसरा का पूछना है, पर पूछने का भी अपना अपना ढग होता है। जिसके लिए हृदय मे पर्याप्त स्थान हो उसके लिए दूसरी ही प्रकार की क्रिया और जिसके लिए उपेक्षाभाव या हानभाव हो उसके लिए और ही क्रिया का प्रयोग होता है।

यहा भी जब अग्नि यक्ष के पास गई तो वह पूछती है, 'तू कौन है ?' यहा मध्यमपुरुष एकवचन की क्रिया अग्नि के निरादर के लिये प्रयुक्त की गई, जो कि ऋषि के भाव को बडे चमत्कारपूर्ण ढग से प्रकट कर रही है।

इसी प्रकार, इस मन्त्र मे अभ्यद्रवत् क्रिया अग्नि के मन की व्याकुलता प्रकट कर रही है। ऐसा लगता है जैसे वह बडी तेजी से दौडकर गई हो। वास्तव मे ऋषि को यहा अग्नि के मन की आकुलता बतानी ही इस क्रिया से अभिप्रेत है। अन्यथा गमनार्थक अन्य धातुओ मे अग्नि की व्याकुलता प्रकट करने का वह सामर्थ्य कहा ? अत ऋषि किसी दूसरी धातु का यहा प्रयोग करके अपने को व्याकुल नही बनाना चाहता।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन । तन्न शशाक दग्धुम् । स तत एव निववृते । नैतदशाकं विज्ञातु यदेतद्यक्षमिति ॥

—केन० ३. ६

बेचारी अग्नि यक्ष द्वारा फेंके गए एक छोटे से तिनके को जलाने के लिए बडे वेग के साथ एकदम उसके निकट भी गई और पूरा जोर लगाने पर भी तिनके को नही जला सकी—तन्न शशाक। अग्नि ने कितना जोर लगाया होगा, पर तिनके का कुछ न बिगाड सकी। शशाक इस अर्थ की पूर्णत प्रतीति करा रहा है। अत उचित स्थान पर प्रयुक्त यह क्रियापद चमत्कृतिपूर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है।

इसी प्रकार केन० ३ ८ तथा ३ ११ मे भी क्रियौचित्य है।

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः।

—केन० ४. ५

कितने आश्चर्य की बात है कि जो ऋषि अभी अभी, बार-बार पीछे कई मन्त्रो मे अभि+द्रव् धातु का प्रयोग करता चला आ रहा था (द्रष्टव्य : केन० ३ ४, ३ ८, ३ ११) वही अब उसको छोडकर गम् धातु को अपना लेता है। किन्तु यहा गम् धातु का जो औचित्य है, वह द्रव् या अन्य धातु का कहा ! मन ब्रह्म की ओर दौडकर नही जाता। उसकी क्या सामर्थ्य जो वह दौडकर ब्रह्म के समीप पहुँच जाय।

वह तो 'जाता हुआ-सा' प्रतीत हो रहा है। अभी बेचारा प्रयत्न कर रहा है। तल्लीनता तो अभी बहुत दूर है। यहां मन के उस शनैः-शनैः ब्रह्म की ओर उन्मुख होने के व्यापार को द्योतित करने के लिए ही गम् धातु का प्रयोग किया गया है जो कि इस मन्त्र में चमत्कृतिपूर्ण प्राण डाल रहा है।

इसी उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कवि ने मन के साथ पत् धातु का प्रयोग किया था। वहां मन के अतिरिक्त किसी दूसरे (आत्मा) की सत्ता दिखाना ऋषि का अभिप्रेत था। अतः पतति क्रिया का प्रयोग किया। क्योंकि पत् धातु में जो गिरने का भाव है, उसमें किसी दूसरी वस्तु की कारणता अवश्य रहती है। भले ही वह कारण स्पष्ट ज्ञात न हो रहा हो, वहां प्रेरणात्मक वस्तु अवश्य रहेगी। अतः केन प्रेषितं पतति मनः इस प्रकार कहा गया। किन्तु यहां गच्छतीव मनः में मन स्वयं जाता हुआ प्रतीत हो रहा है। मन को ब्रह्म की ओर बलात् प्रेरित नहीं किया जा रहा है। उसमें अब ऐसी स्वाभाविकता आ गई है कि बाह्य विषयों से हटकर आत्मा की ओर प्रवृत्त हो रहा है। मन का इस प्रकार स्वतः ही आत्मा की ओर प्रवृत्त होना ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होता है। इस प्रकार गच्छति क्रियापद जिस औचित्य के साथ यहां रखा गया है, उसी विलक्षणता के साथ वह अपना अर्थ यहां प्रकट कर रहा है।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति॥

—मु० १ २ ३

कारण के होने पर कार्य अवश्य हो जाय, यह कोई नियम नहीं। यहां प्रकरण में ऋषि इसी को जोरदार शब्दों में कहना चाहता है कि यदि सम्यक् प्रकार से कर्म किया जाय तो निश्चयरूपेण उसका फल प्राप्त होता है, पर जिन लोकों की साधक प्राप्ति चाहता है उनकी प्राप्ति के अनुरूप ही कर्म हो। केवल अग्निहोत्रादि कर्मों द्वारा उन लोकों की प्राप्ति न होकर निश्चयेन विनाश हो जाता है। अतः हिनस्ति क्रिया का प्रयोग अव्यभिचारी रूप अर्थ को प्रकट करने के लिए है, अर्थात् अवश्य ही नाश कर देता है। —द्र० शांकरभाष्य

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्यमुपैति ॥

—मु० ३ १ ३

यहा ईश्वर की प्राप्ति के बाद किस प्रकार ज्ञानी पाप और पुण्य का त्याग देता है, इसका बडे उचित ढग से ऋषि वर्णन करता है। ऋषि ने यहा वि+√धूञ्+ल्यप् का प्रयोग किया है। वैसे त्यक्त्वा का भी प्रयोग हो सकता था, पर त्यक्त्वा मे वह विलक्षणता कहा जो कि वि+√धूञ्+ल्यप् मे है। वस्तु का धुनना किस प्रकार होता है, यह तो किसी धुनिये से पूछा कि वह किस प्रकार रुई को अलग-अलग कर देता है। अत यह क्रियौचित्य का सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार—

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्ड मुखाद्वाग्वाचोऽग्नि र्नासिके · शिश्नाद्रेतो रेतस आप. ।

—ऐत० १ १ ४

इस मन्त्र मे निरभिद्यत क्रिया यहा से सृष्टि की उत्पत्ति को याथातथ्येन बता रही है। विराट् पुरुष के आदेश से, तप करने पर उसमें अण्ड के समान मुख उत्पन्न हुआ। इसका तात्पर्य हुआ कि जिस प्रकार किसी वस्तु के फटने से उसके अन्दर की वस्तु बाहर आ जाती है, उसी प्रकार ईश्वर ने अपने अन्दर पहले से ही ओत प्रोत ससार की कारणभूत उस अण्डाकार वस्तु को प्रकट किया। यहा उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारण-सामग्री का निषेध स्वत ही क्रिया द्वारा हो गया।

सर्वाजीवे सर्वसस्थे बृहन्ते अस्मिन् हसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

यहा भ्रम् धातु का कर्म मे प्रयोग एकमात्र पाठको को भ्रम मे डालने के लिए नहीं, अपितु जीव-विषयक भ्रान्ति को दूर करने के लिए उपयुक्त स्थान पर हुआ है। जीव स्वय नहीं घूमता, अपितु उसको

घुमाने वाला कोई अन्य ही है। जीव का यही तो लक्षण है कि जहा ईश्वर स्वतन्त्र है, वहा जीव परतन्त्र । वह कर्म करने मे तो स्वतन्त्र है, पर फल भोगने मे परतन्त्र। इस ब्रह्मचक्र मे नाना योनियो मे उसको घुमाया जाता है। वह भला इतना सज्जन कहा कि स्वत ही शूकर-कूकर की योनियो मे विचरण करे। उसका वश चले तो वह सर्वदा नन्दन वन मे ही विचरण करता रहे । अत जीव की इस परवशता, तथा कर्मयोग की अनिवार्यता को द्योतित करने मे भ्रम् धातु का यह रूप यहा औचित्य का ही निर्वाह नही कर रहा, अपितु चमत्कार-पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन भी कर रहा है ।

६

गद्य-काव्य

६.१. उपनिषदों का गद्य

प्रत्येक भाषा के साहित्य में गद्य और पद्य, दो प्रकार का काव्य उपलब्ध होता है। आचार्य वामन ने भी माध्यम की दृष्टि से काव्य के भेदों का विवेचन करते हुए कहा है—

काव्यं गद्यं पद्यं च ॥[1]

संस्कृत भाषा में भी प्रारम्भ से अर्थात् वैदिक साहित्य से लेकर अद्यावधि कवियों ने गद्य तथा पद्य दोनों माध्यमों से रचना की है। बाद में काव्य में एक और प्रकार प्रचलित हुआ, जिसे चम्पू नाम दिया गया। इस रचना में यद्यपि गद्य की ही बहुलता होती है, तथापि यत्र-तत्र पद्य भी कवि जोड देता है।

उपनिषदों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि यद्यपि उस समय के ऋषियों में पद्य लिखने की प्रवृत्ति अधिक थी जो कि वैदिक साहित्य के प्रभाव तथा मौखिक परम्परा के कारण चली आ रही थी, तथापि गद्य-रचना में भी उनकी गति कम न थी। उपनिषदों में लौकिक साहित्य में विकसित गद्य की सभी विधाओं के रूप प्राप्त होते हैं, भले ही ये स्वल्प मात्रा में हों।

वामन ने गद्य को तीन भेदों में विभक्त किया है—

गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च[2] ॥

---

१. काव्यालंकारसूत्र, १ ३. २१

२. वही, १. ३. २२

और इनके लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धि ॥
अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ॥
विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ॥

—काव्यालंकारसूत्र, १ ३ २३, २४, २५

पर, आचार्य विश्वनाथ ने गद्य रचना को चार प्रकारों में विभक्त किया है। वे इस प्रकार लिखते हैं—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ॥

—साहित्यदर्पण, ६ ३३०, ३३१

अर्थात् छन्दोबन्धन से रहित रचना गद्य कहलाती है, और समास-रहित गद्य मुक्तक, तथा छन्द की गन्ध से युक्त वृत्तगन्धि कहलाता है। दीर्घसमासप्राय तथा उत्कट पदों से युक्त उत्कलिकाप्राय एवं अनाविद्ध अर्थात् दीर्घसमासहीन और ललित अर्थात् अनुत्कटपदयुक्त गद्य चूर्णक अथवा चूर्ण कहलाता है। किन्तु विश्वनाथ की इस परिभाषा के आधार पर उपनिषदों में गद्य के इन चार प्रकारों की उपलब्धि न होकर वामन के अनुसार तीन प्रकार के गद्य का ही रूप प्राप्त होता है।

कुछ एक उपनिषदों में गद्य का प्रयोग बिल्कुल नहीं हुआ, जैसे ईश और कठ में। कुछ में नाममात्र को ही गद्य मिलता है, जैसे केन, मुण्डक, माण्डूक्य और श्वेताश्वतर में। प्रश्न, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में गद्य प्रचुर मात्रा में तथा विविध रूपों में मिलता है।

यद्यपि अन्य उपनिषदों में गद्य और पद्य का मिश्रण है, पर बृहदा-रण्यक में गद्य और पद्य, दोनों इस रूप और इतनी मात्रा में मिलते हैं कि इसे उत्तरवर्ती चम्पू काव्यों का मूल माना जा सकता है।

उपनिषदों में प्राप्त गद्य के उपर्युक्त रूपों के कुछ उदाहरण नीचे उद्‌धृत किए जाते हैं—

§ ११. चूर्णक गद्य (अल्पसमास या समासरहित)

(क) सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते। एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।

—प्रश्न० २ ४

(ख) यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्, चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥

—मा० ५

(ग) वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥ अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥

—तै० १.११

उपर्युक्त गद्यभाग मुक्तक गद्य का आदर्श होने के अतिरिक्त अनुप्रासमय, प्रवाहशील एवं प्राञ्जल गद्य का भी सुन्दर उदाहरण है। इसमें बाण के शुकनासोपदेश की सरल तथा उपदेशात्मक प्रवृत्ति का पूर्वरूप भी स्पष्ट लक्षित होता है। और भी देखिए—

(घ) कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे ? कतरः स आत्मा ? येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धान् जिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति। यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

एष ब्रह्मा। एष इन्द्रः। एष प्रजापतिः। एते सर्वे देवाः। इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींष्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम्। सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥

—ऐत० ३ १-४

उपर्युक्त गद्यखण्ड में कुछ वाक्य छोटे-छोटे हैं तथा कुछ बहुत लम्बे भी। परन्तु ये वाक्य लम्बे होनेपर भी उद्वेजक नहीं, अपितु सुगठित गद्य के रूप में प्रतीत होते हैं। यहाँ असमस्त तथा अकृत्रिम एवं अनुप्रासात्मक तथा रुचिकर वाक्यों द्वारा आध्यात्मिक विषय को सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक मत को सुबोध गद्य द्वारा सहज रीति से प्रस्तुत करने की दिशा में ऋषि की यह पद्धति गहन विषय को अनायास ही हृदयङ्गम करा देती है। यही इस उपनिषद् के गद्य का सौष्ठव है।

(ङ) तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्यः। अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवति। अस्य सोम्य

पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ॥

—छा० ६ ८ ६

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम् । तत् सत्यम् । स आत्मा । तत्त्वमसि । ॥

—छा० ६ ८ ७

(च) बलं वाव विज्ञानाद् भूयः । अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवति । उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति । परिचरन्नुपसत्ता भवति । उपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति । बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकम् । बलेन लोकस्तिष्ठति । बलमुपास्स्वेति ॥

—छा० ७ ८. १

(छ) तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते ॥

—छा० ८. ७ ३

छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत चूर्णक गद्य के उपर्युक्त भागों में अनुप्रासात्मक शैली का अवलम्बन किया गया है। इसके अतिरिक्त यहां माधुर्य गुण तथा वैदर्भी रीति की भी झलक मिलती है। उपनिषदों में प्रायः ऐसी व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं जो कि बोझिल नहीं। गद्य के ऐसे अंश परवर्ती काल में विकसित प्रांजल गद्य के पुरोगामी प्रतीत होते हैं।

(ज) आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय । वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति । एतावान् वै कामः । नेच्छंश्चनातो भूयो विन्देत् । तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते—जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति । स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते । तस्यो कृत्स्नता । मन एवास्यात्मा । वाग्जाया । प्राणः प्रजा । चक्षुर्मानुषं वित्तम् । चक्षुषा हि तद्विन्दते ।

श्रोत्रं दैवम्। श्रोत्रेण हि तच्छृणोति। आत्मैवास्य कर्म। आत्मना हि कर्म करोति। ...

—बृ० १ ४.१७

(झ) ... न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। ... न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥

—बृ० २ ४ ५

(ञ) ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद। लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद। देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद। भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा॥

—बृ० २ ४ ६

ऊपर उद्धृत गद्यांशों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि बृहदारण्यक का गद्य सुपरिनिष्ठित है। यद्यपि इसमें गद्यखंड लम्बे हैं, पर वाक्य छोटे और हृदयावर्जक हैं। अधिकतर गद्यरचना सरल तथा ललित है। भाषा मधुर एवं भावानुग्राहक है। इस प्रकार यह पारदर्शी गद्य है। वाक्यों की योजना सश्लिष्ट और जटिल न होकर भी परस्पर ग्रथित तथा ओजस्वी है। यहाँ यद्यपि पदों की पुनरुक्ति हुई है, पर इसमें अर्थ का पोषण ही होता है। अतः यह दोष नहीं है।

बृहदारण्यक में सुन्दर गद्य के उदाहरण इसमें २ ४ ■ से लेकर २.४ १४ तथा ३ ५ १ से ३ ५.१५ तक भी निरन्तर मिलते हैं।

लौकिक साहित्य में जिस प्रकार वासवदत्ता से चलता हुआ गद्य कादम्बरी में जाकर सुविकसित एवं सुगठित तथा परिनिष्ठित दिखाई देता है, इसी प्रकार उपनिषत्कालीन गद्य बृहदारण्यक में पूर्णरूपेण

विकसित एवं परिनिष्ठित दिखाई देता है। तथा च, बृहदारण्यक में गद्य के तीनों रूपों—चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय—के दर्शन होते हैं।

६.१२. वृत्तगन्धि गद्य (पद्यात्मक)

पद्यांशों से युक्त अथवा पद्यसमान गद्य वृत्तगन्धि कहलाता है। ऐसे गद्य में वस्तुतः कोई छन्द नहीं होता, पर वृत्त अथवा छन्द की गन्ध रहती है। पाठकों को आपाततः इसमें पद्य की प्रतीति होती है। गद्य के इस रूप के भी दर्शन कुछ उपनिषदों में कहीं कहीं मिलते हैं। यथा,

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥

—केन० १ १

प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार के गद्य के पर्याप्त मात्रा में दर्शन होते हैं। कतिपय उदाहरणों को यहां देखा जा सकता है—

अथाऽऽदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते॥

—प्रश्न० १ ६

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥

—प्रश्न० २ ७

पायूपस्थेऽपानम्। चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते। मध्ये तु समानः।

—प्रश्न० ३ ५

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥

—प्रश्न० ४ ७

उपर्युक्त मन्त्रों में ऐसी लयात्मकता है जिससे यह गद्य पद्य-सा पढ़ा जा सकता है। लौकिक साहित्य में इस प्रकार के गद्य का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब पद्य से गद्य में लिखने की प्रवृत्ति हुई होगी, तो प्रथम इस प्रकार का ही गद्य लिखा गया होगा। अतः यह गद्य, गद्य और पद्य के बीच की कड़ी को जोड़ता हुआ प्रतीत होता है।

६ १ ३ उत्कलिकाप्राय गद्य (उत्कटपदयुक्त)

चूर्णक से विपरीत गद्य उत्कलिकाप्राय कहलाता है, जो दीर्घ-समास तथा उत्कट पदों से युक्त होता है। उपनिषदों में दीर्घ समासों का तो प्राय अभाव है, पर लम्बी-लम्बी सन्धियों तथा क्लिष्ट पदों के कारण उत्कट तथा जटिल रचना के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। यथा,

(क) नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चो-पशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेयः॥

—मा० ७

(ख) तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत्। तद्वाचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद् वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।[1]

—ऐत० १ ३ ३

(ग) प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्। तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति॥

—छा० २ २३ २

(घ) पुरा माध्यंदिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उप-विश्य स रौद्रं सामाभिगायति॥

—छा० २ २४.७

---

१ इसी प्रकार की रचना ऐतरेय० १ ३ ४ से १.३ ६ तक निरन्तर मिलती है।

(ङ) स होवाच—एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व-मदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्क-मश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमबाह्यम् । ···

—बृ० ३. ८ ८

(च) यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्र-सयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत् स्पृशेदन्यो-ऽन्यद्विजानीयात् ॥

—बृ० ४ ३ ३१

६.२. निष्कर्ष

उपनिषदों के गद्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उपनिषदों का गद्य प्राय अल्पसमासात्मक एव अनुप्रासमय चूर्णक गद्य की कोटि का है। इसके पद मधुर तथा वाक्य छोटे और सरल हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन के कारण ऋषियों की शैली स्वभावत व्याख्यात्मक, विवरणमयी और विश्लेषणपूर्ण है। अनेक स्थलों में उपनिषदों की शैली उपदेशात्मक हो गई है, जैसे कि तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अनुवाक ११ में।

उपनिषदों के गद्य-भागों में अनेक स्थलों में एक पद, वाक्य अथवा वाक्यांश की आवृत्ति हुई है। उपनिषद्कारों ने यद्यपि इस प्रकार में आवृत्ति अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए अथवा अर्थ के पोषणार्थ की होगी, पर इस कारण उन स्थलों पर गद्य अरुचिकर तथा उद्वेजक प्रतीत होता है, और अपरिष्कृत भी। जैसे, तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के नवम अनुवाक में १२ वार स्वाध्यायप्रवचने पद की आवृत्ति की गई है।[1] इसका दो एक वार प्रयोग करके गद्य को नीरस होने से बचाया जा सकता था। इसी उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक में ते ये शतम् की १० वार श्रोत्रियस्य चाकामहतकस्य की १० वार, आनन्दः पद की ६ वार तथा मनुष्यगन्धर्वाणाम्, देवगन्धर्वाणाम्, पितॄणां चिरलोकलोकानाम्, आजानजानां देवानाम् आदि पदों की दो दो वार आवृत्ति हुई है जो कि परिहार्य थी। इस अनावश्यक पुनरुक्ति के कारण इस अनुवाक की रचना एकसुरापन लिए है, और अरोचक ही नहीं उबाऊ भी हो गई है।

---

१ ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

यही दोष तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली के अनुवाक २ से अनुवाक ५ तक पाया जाता है। इस प्रसंग मे अधीहि भगवो ब्रह्मेति। त होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा वाक्य की प्रत्येक मन्त्र मे उसी क्रम से आवृत्ति हुई है। तथा, "इमानि भूतानि जायन्ते, जातानि जीवन्ति, प्रयन्त्यभिसंविशन्ति और विजिज्ञासस्व की बार-बार आवृत्ति भी अखरती है। सातवे, आठवे तथा नवे अनुवाको मे भी पदो की आवृत्ति हुई है। अपने भाव को विशिष्ट भाषा मे अभिव्यक्त करके ऋषि अपनी रचना को सुन्दर व आकर्षक बना सकता था।

ऐतरेयोपनिषद् के १ ३ ३-१० मन्त्रो मे अजिघृक्षत्, ग्रहीतुम्, अग्रहैष्यद्, अत्रप्स्यत् पदो की लगभग एक दर्जन बार एक ही स्थान पर आवृत्ति से जहा यह गद्यभाग गरिष्ठ प्रतीत होता है, वहा रचना शिथिल और बोझल भी हो गई है।[1]

ऐतरेय० १ २ ४ मे प्राविशत् पद की सात बार तथा १ ३ ११ मे अपि पद की आठ बार निरर्थक आवृत्ति हुई है। और, जहा स्पष्टता के हेतु पद प्रयोग आवश्यक था वहा वे सर्वथा प्रयुक्त नही किए गए। जैसे, ऐत० १ ३ १२[2] मे आवसथ क्रियापद की तीन बार आवृत्ति की गई है जब कि एक ही बार के प्रयोग से भाव स्पष्ट हो सकता था। और यही मस्तक, कठ और हृदय का निर्देश करने के लिए केवल अयम्

---

१. तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत्। तद्वाचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। तद्यद्धैनद् वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत ॥५॥ इत्यादि।

२. तस्य त्रय आवसथास्त्रय स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति।

सर्वनाम का ही प्रयोग किया गया है, जिससे मूलपाठ अस्पष्ट एव सन्दिग्ध हो गया है।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् १ ७ की छ पक्तियो मे सात बार ऋच्यध्यूढ साम की पुनरुक्ति है। इसी उपनिषद् का प्रपाठक २ तो सारे का सारा पृथ्वी हिंकार प्रस्ताव, प्रतिहार, निधन, अपराह्न, मध्यन्दिन, जघन आदि नीरस पदो की आवृत्ति से भरा पडा है, अत वहा रचना अपरिष्कृत लगती है।

६.३. कथात्मक तथा नाटकीय गद्य

शास्त्रीय दृष्टि से चूर्णक, वृत्तगन्धि तथा उत्कलिकाप्राय गद्य के अतिरिक्त उपनिषदों मे कथात्मक तथा नाटकीय गद्य का रूप भी उभरता दिखाई देता है।

६.३ १. कथात्मक शैली

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली मे ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन पचकोशविवेक दिखलाने के लिए वरुण और भृगु का आख्यान दिया गया है। आत्मतत्त्व का जिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण के पास जाता है। पुन-पुन सन्देह होने और पुन-पुन. वरुण के आदेशानुसार तप द्वारा उसने निश्चय रूप से जाना कि आनन्दो ब्रह्मेति।

कथा-शैली का जो रूप तैत्तिरीय उपनिषद् मे प्रस्फुटित हुआ, वही छान्दोग्य उपनिषद् मे पल्लवित होता दीखता है। इस उपनिषद् मे उपासना और ज्ञान का विवेचन है। इन दोनो विषयो को सुगमता से समझाने के लिए स्थान स्थान पर कई आख्यायिकाए दी गई है। इस कथा-पद्धति से उन गहन विषयो के हृदयगम होने मे सहायता-प्राप्ति के अतिरिक्त कई प्रकार की शिक्षाए भी मिलती है। प्रथम अध्याय मे इभ्य ग्राम मे रहने वाले उषस्ति की कथा है। उषस्ति कुशल कर्मकाण्डी थे। एक बार कुरुदेश मे, जहा वे रहते थे, ओले और पत्थरो की वर्षा के कारण ऐसा अकाल पडा कि उन्हे कई दिनो तक निराहार रहना पडा। जब प्राणसकट उपस्थित हुआ तो उन्होने एक हाथीवान से कुछ खाने को मागा। उसके पास कुछ उडद थे, परन्तु वे उच्छिष्ट थे। इसलिए उन्हे देने मे उसे हिचक हुई। परन्तु उषस्ति ने उन्ही को माग कर अपने प्राणो की रक्षा की। जब हाथीवान उच्छिष्ट जल भी देने लगा तो उषस्ति ने 'यह उच्छिष्ट है', ऐसा कहकर निषेध कर दिया। इस पर जब हाथीवान ने शका की कि क्या जूठे उडद खाने मे उच्छिष्ट-भोजन का दोष नही हुआ ? तो वे बोले—

न वा अजीविष्यमिमानखादन् ''' कामो मे उदपानम्।

इस प्रकार उच्छिष्ट जल का निषेध करके उषस्ति ने यह आदर्श उपस्थित कर दिया कि मनुष्य आचार सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा तभी कर सकता है जब कि उसके बिना प्राणरक्षा का कोई दूसरा उपाय ही न हो।

किसी भी कल्याणकारी विद्या का ग्रहण करने के लिए मनुष्य का किनना त्याग, तप, श्रद्धा, सत्य, विनय आदि की आवश्यकता है—यह बात छान्दोग्य उपनिषद् में जानश्रुति की कथा, सत्यकामजाबाल की कथा, श्वेतकेतु की कथा तथा अश्वपति की कथा द्वारा प्रदर्शित की गई है।

गद्य का यह कथात्मक रूप यद्यपि प्रौढ़ तो नहीं, तथापि रोचक, सुग्रथित विशद एवं माधुर्य है। इस कथात्मक गद्य की भाषा सरल है और वाक्य छोटे छोटे हैं। अनावश्यक विस्तार या पुनरुक्ति भी नहीं है। शैली भी जटिल न होकर अकृत्रिम है।

६ ३ २. नाटकीय अथवा संवादात्मक शैली

उपनिषदों के ऋषियों ने ब्रह्मतत्त्व, ज्ञान, उपासना आदि का उपदेश जिज्ञासु शिष्यों को प्रश्नोत्तर रूप में दिया था। इस कारण इन रचनाओं में संवादों का होना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी था।

प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा, भार्गव, कौसल्य, गार्ग्य, सत्यकाम और सुकेशा के प्रश्नोत्तरात्मक संवाद, तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में भृगु-वारुणि संवाद, छान्दोग्य उपनिषद् १ ८ में शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण का उद्गीथविषयक संवाद, छान्दोग्य० ४ ४ में सत्यकाम जबाला तथा हारिद्रुमत गौतम का वार्तालाप, बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य-गार्गी, याज्ञवल्क्य मैत्रेयी, तथा जनक-याज्ञवल्क्य संवाद इस शैली के प्रमुख उदाहरण हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों का अधिकांश भाग संवादों में ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में जानश्रुति रैक्व, अश्वपति औपमन्यव, अश्वपति-सत्ययज्ञ, अश्वपति इन्द्रद्युम्न, अश्वपति जन, अश्वपति-बुडिल, अश्वपति उद्दालक आदि के संवाद तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-आर्तभाग, याज्ञवल्क्य भुज्यु, याज्ञवल्क्य उषस्ति, याज्ञवल्क्य-कहोल, याज्ञवल्क्य आरुणि, याज्ञवल्क्य शाकल्य आदि के संवाद द्रष्टव्य हैं।

मनुष्यों के परस्पर संवाद के अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् ५ १ में अपनी अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हुए वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि का, तथा इसी प्रकार बृहदारण्यक ६ १ में अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए वागादि प्राणों का भी, ब्रह्मा के पास जाकर पारस्परिक संवाद मिलता है।

उपनिषदों में प्राप्त उपर्युक्त नाटकीय अथवा संवादात्मक शैली के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

१ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य —उद्यास्यन् वा अरे अहमस्मात् स्थानादस्मि। हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति।

सा होवाच मैत्रेयी—यन्नु म इयं भगो सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति।

नेति होवाच याज्ञवल्क्य। यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्। अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति।

सा होवाच मैत्रेयी—येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति।

स होवाच याज्ञवल्क्य —प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे। एह्यास्स्व। व्याख्यास्यामि ते। व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति।

—बृ० २ ४ १४

२ ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः। तद्धोचुः —को नो वसिष्ठ इति। तद्धोवाच—यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति॥

वाग्घोच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृते जीवितुमिति। ते होचुः —यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह वाक्॥

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुः—यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह चक्षुः ॥

श्रोत्रं होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुः—यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥

मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुः—यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह मनः ॥

रेतो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुः—यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह रेतः ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून् संवृहेदेवं हैवेमान् प्राणान् संववर्ह । ते होचुः—मा भगव उत्क्रमीः । न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति । तस्यो मे बलिं कुरुतेति । तथेति ॥

सा ह वागुवाच—यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुः । यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रम् । यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतः । तस्यो मे किमन्नं किं वास इति । यदिदं किंचा श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत् तेऽन्नम् । आपो वास इति । न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति, नानन्नं प्रतिगृहीतं, य एवमेतदनस्यान्नं वेद । तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्ति एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥

—बृ० ६ १ ७-१४

औपनिषदिक गद्य की इस नाटकीय शैली से स्पष्ट होता है कि उपनिषद्-कालीन यह शैली संहिताकालीन संवादात्मक शैली तथा लौकिक संस्कृत में लिखित नाटकीय शैली के बीच की वह कड़ी है, जो दोनों को जोड़ती है। लौकिक संस्कृत के नाटकों का सम्बन्ध एकदम संहिताकालीन कथात्मक या नाटकीय संवादात्मक शैली से न होकर उपनिषद्कालीन इस नाटकीय शैली से रहा होगा। इस प्रकार संहिता-काल में अंकुरित नाटकीय विधा उपनिषदकाल में पल्लवित हुई, और लौकिक संस्कृत में विशालवृक्ष के रूप में पनपी। अत लौकिक नाटकीय शैली का जो सीधा सम्बन्ध वेद में प्राप्त 'यम यमी संवाद' इत्यादि से जोड़ते हैं, वे उपनिषद्कालीन इस शैली को भूले हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से गद्य-रचना की प्रत्येक शैली का उत्तरवर्ती साहित्य पर पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है।



उपसंहार

इस अध्ययन से सिद्ध होता है कि उपनिषद् साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा इनका काव्यात्मक अध्ययन इनमें निहित गहन दर्शन को समझने में सहायक हो सकता है। तथा च, प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के सभी तत्त्वों के बीज इनमें विद्यमान है।

उपनिषदों के ऋषि वास्तविक कवि थे। वे लक्षणग्रन्थों के अभाव में भी, ब्रह्मज्ञान की मस्ती में, सुन्दर काव्य-रचना कर गए। प्लेटो ने भी कहा है कि "सभी धार्मिक तथा आध्यात्मिक काव्यों का मूल 'उन्मादक दैवी उत्प्रेरणा' है। इन महान् काव्यों के रचयिताओं ने काव्यरचना में उत्कर्ष किसी कला के नियमों का पालन करके प्राप्त नहीं किया था, अपितु आनन्दमय ईश्वरीय ज्ञान की मस्ती में मधुर गीत गाए थे।"[१]

अत इस कथन में अतिशयोक्ति न होगी कि,

वेदोऽस्ति काव्यमूलम्।

---

१ "The authors of those great poems do not attain to excellence through the rules of any art but they utter beautiful melodies of verse in a state of inspiration, and, as it were, possessed by a spirit not their own"

(Plato in his *Ion* quoted by R D Ranade in *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, Oriental Book Agency, page 9, Poona, 1926

परिशिष्ट

(क) उपनिषदों के उपमान

किसी भी अभिव्यक्ति को सुन्दर रूप देने तथा उसे बोधगम्य बनाने के लिए उपमानो का अत्यधिक महत्व है। ऋग्वेद से लेकर आज तक सभी कवि अपनी उक्ति को उचित उपमानो से अलकृत करते आए है। कालिदास के उपमान तो प्रसिद्ध ह ही, परन्तु उपनिषदो के ऋषि भी उपयुक्त उपमानो की योजना मे किसी से कम नहीं हैं। ऋग्वेद के समय से उन्हे उपमान-योजना की सुव्यवस्थित परम्परा धरोहर के रूप मे मिली और वही परम्परा कालिदास आदि परवर्ती कवियो को प्राप्त हुई। जिस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उपमान सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रों से चयन किए गए हैं, उसी प्रकार उपनिषद् के ऋषि ने भी अपने आध्यात्मिक चिन्तन तथा गहन दर्शन को बोधगम्य तथा सुन्दर बनाने के लिए अपने समय के वातावरण से ही उपयुक्त उपमानो को ग्रहण किया है। ये उपमान बहुधा ऐसे पदार्थ हैं जो ऋषि के जीवन मे प्रतिदिन व्यवहार मे आते थे, जैसे यज्ञ, अग्नि, हवि, चरु आदि अथवा जो उस समय के वातावरण मे जन-साधारण के दर्शन तथा अनुभव का विषय थे, जैसे कि आकाश-मण्डल मे उदीयमान सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा भूमण्डल मे प्रवहमान नदियां, उन्नत पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी, यातायात के साधन अश्व, रथ आदि तथा व्यवहार मे आने वाले अन्य पदार्थ जैसे क्षुर, पाश, मुञ्ज, इषीका आदि। इन उपमानो को हम स्थूल रूप मे पाच भागो मे विभक्त कर सकते है—(१) दिव्य, (२) वनस्पति, (३) जीवजन्तु, (४) दैनिक व्यवहार मे आने वाले पदार्थ तथा (५) अन्य।

१. दिव्य

सूर्य

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु । —कठ० ५ ११

वज्र

महद्भय वज्रमुद्यतम्। —कठ० ६. २

मरीचि

यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्त गच्छत.। —प्रश्न० ४. २

रश्मि

एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च।

—छा० ८ ६ २

द्यौ

यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। —बृ० ६ ४ २२

विद्युत्

यथा सकृद्विद्युत्तम्। —बृ० २ ३ ६

२. वनस्पति तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थ

अश्वत्थ

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। —कठ० ६ १

मुञ्ज इषीका

मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। —कठ० ६ १ १७

वंश

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशः।

—छा० ३ १ १

व्रीहि यव, सर्षप, श्यामाक तण्डुल

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद् वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद् वा। —छा० ३ १४ ३

सस्य

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते। —कठ० १ ६

पुण्डरीक

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा पुण्डरीकम्। —बृ० २ ३ ६

वृक्ष, पर्ण, त्वक्, रस शकल, कीनाट, दारु

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥

—बृ० ३ ९ २८

वृक्ष

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।

—श्वे० ३ ९

आम्र, उदुम्बर, पिप्पल

तद्यथा आम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यते ।

—बृ० ४ ३ ३६

ओषधि

यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । —मु० १ १ ७

अपूप (मधुकोश, शु० शांकर)

तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपः । —छा० ३ १ १

उदक

यथोदकं दुर्गे वृष्टम् । —कठ० ४ १४

अग्नि

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः । —कठ० ५ ९

वायु

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टः । —कठ० ५, १०

ज्योति

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।

—कठ० ४ १३

नदी, समुद्र

नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति ।

—प्रश्न० ६ ५

ऊर्मि, आवर्त (भवर), ओघ

पचस्रोतोम्बु पचयोन्युग्रवक्रा पचप्राणोर्मि पचबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पचावर्ता पचदु खौघवेगा पचाशद्भेदा पचपर्वामधीम ॥
—श्वे० १ ५

गिरि

कीर्त्ति पृष्ठ गिरेरिव ।
—तै० १ १०

छाया, आतप

छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।
—कठ० ६ ५

तमस (अन्धकार)

मृत्युर्वै तम ।
—बृ० १ ३ २८

३. जीवजन्तु

मक्षिका, मधुकर

तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तम् ।
—प्रश्न० २ ४

वयासि

स यथा सोम्य वयासि वासोवृक्ष सप्रतिष्ठन्ते ।
—प्रश्न० ४ ७

पादोदर (सर्प)

यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते ।
—प्रश्न० ५ ५

ऊर्णनाभि

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च ।
—मु० १ १ ७

तन्तुनाभ

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभि प्रधानजै स्वभावतो देव एक स्वमावृणोति ।
—श्वे० ६. १०

सुपर्णा (पक्षी)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ।
—मु० ३ १ १

श्येन (बाज)

श्येनो जवसा निरदीयम्। —ऐत० २ ५

अवि (भेड), इन्द्रगोप

यथा पाण्ड्वाविकम्, यथेन्द्रगोप। —बृ० २ ३ ६

तृणजलायुका

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्त गत्वा। —बृ० ४ ४ ३

धेनु

वाच धेनुमुपासीत। —बृ० ५ ८ १

हय (घोडा)

इन्द्रियाणि हयानाहु। —कठ० ३ ४

ऋषभ

तस्या प्राण ऋषभो मनो वत्स। —बृ० ५ ८ १

महामत्स्य

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसचरति पूर्व चापर चैवमेवाय पुरुष एतावुभावन्तावनुसचरति॥ —बृ० ४. ३ १८

हस

प्राणेन रक्षन्नवर कुलाय वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र काम हिरण्मय पुरुष एकहस॥ —बृ० ४ ३ १२

४. दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ

सृका

सृका चेमामनेकरूपा गृहाण। —कठ० १ १६

पाश

स मृत्युपाशान् पुरत प्रणोद्य। —कठ० १ १८

उडुप

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।
—श्वे० २ ८

प्लव

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा । —मु० १ २ ७

अन (शकट)

तद्यथाऽन सुसमाहितम । —बृ० ४ ३ ३५

रथ

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु । —कठ० ३ ३

प्रग्रह

मन प्रग्रहमेव च । —कठ० ३ ३

क्षुर

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया । —कठ० ३ १४

आदर्श

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि । —कठ० ६ ५

धनु शर

धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र शरम् । —मु० २ २ ३

अश्मा

यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वसते । —छा० १ २.८

अर्धबृगल (द्विदल अन्न का एक दल तु० फाँक)

तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्य ।
—बृ० १ ४ ३

माहारजन वास (कुसुभे से रगा वस्त्र)

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूप यथा माहारजन वास । —बृ० २ ३ ६

सैन्धवखिल्य (नमक का टुकड़ा)

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त । —बृ० २ ४ १२

आर्द्रैधा

यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् । —बृ० २ ४ १०

अरणी

हिरण्मयी अरणी याभ्या निर्मन्थतामश्विनौ । —बृ० ६ ४. २२

समिद्ध (यज्ञ)

मम समिद्धेऽहौषी प्राणापानौ त आददे । —बृ० ६ ४ १२

पड्वीशशङ्कु (पाव बाधने का खूटा)

यथा गुह्य पड्वीशशङ्कून् । —छा० ५ १ १२

सर्पि

तिलेषु तैल दधनीव सर्पि । —श्वे० १ १५

सर्पि, क्षीर

सर्वव्यापिनमात्मान क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । —श्वे० १. १६

दीप

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।
—श्वे० २ १५

ओदन

यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदन ।
मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र स ॥ —कठ० २ २५

मण्ड (माड)

घृतात्पर मण्डमिवातिसूक्ष्म ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम् ।
—श्वे० ४ १६

चक्र

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् । —श्वे० ६ १

चर्म

यदा चर्मवदाकाश वेष्टयिष्यन्ति मानवा । —श्वे० ६ २०

अर

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः । —मु० २. २. ६

समिद्

तस्यादित्य एव समिद्रश्मयः । —बृ० ६. २. ९

५. विविध

अन्ध

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः । —कठ० २. ५

गर्भ, गर्भिणी

गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । —कठ० ४. ८

द्वार, पुर

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः । —श्वे० ३. १८

माता, पुत्र

मातेव पुत्रान् रक्षस्व । —प्रश्न० २. १३

राजा, सेनापति, सूत

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्ति । —बृ० ४. ३. ३८

पेशस्कारी (स्वर्णकार)

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादाय । —बृ० ४.४.४

सेतु

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् । —श्वे० ६. १९

आराम

बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ।

—श्वे० ५. ८

मास, अहर्जरम् (संवत्सर, तु० शंकर)

यथाप प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्।	—तै० १.४

अण्ड

तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्डम्।	—ऐत० १ १.४

शरीर के अंग (शिर, पुच्छ, सक्थी, पार्श्व, पृष्ठ, उदर, उर)

स त्रेधाऽऽत्मान व्यकुरुत। आदित्य तृतीय, वायु तृतीयम्। स एप प्राणस्त्रेधा विहित। तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ। दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे। द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुर।	—बृ० १ २ ३

स्तन

य एप स्तन इवालम्बते।	—तै० १.६

केश

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केश सहस्रधा भिन्नस्तावता अणिम्ना तिष्ठन्ति।	—बृ० ४ ३.२०

(ख) छन्द

काव्य का यद्यपि व्यापक अर्थ में प्रयोग बहुत प्राचीन समय से होता आया है किन्तु आगे चलकर इसका अर्थ संकुचित होकर एक मात्र छन्दोबद्ध रचना के लिए ही होने लगा, जिससे आज व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग पद्यबद्ध कविता के अर्थ में ही विशेष रूप से होता है। काव्य के लिए जो मुख्य तत्त्व गिनाए गए हैं, उनमें छन्द का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है।

छन्द का अर्थ है छन्दयति आह्लादयति इति छन्द अर्थात् जो पाठकों को प्रसन्न करता या आनन्द देता है, वह छन्द है।

नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है कि लय तथा ताल के साथ की जाने वाली रचना न केवल मनुष्य को ही, अपितु पशु पक्षियों तक को मुग्ध करने वाली होती है। यही कारण है कि जब आनन्दविभोर होकर ऋषियों ने सर्वप्रथम अपने हृदय के उद्गारों को अभिव्यक्त किया, तो वे उद्गार छन्दोबद्ध ही थे।[1] सम्पूर्ण ऋग्वेद, जो कि विश्व के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ और आदिम ग्रन्थ माना जाता है, उसकी रचना छन्दोबद्ध ही है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी क्रौंच मिथुन में से एक को व्याध द्वारा मारे जाने पर, दूसरे का करुण क्रन्दन सुनकर उससे करुणार्द्रचित्त होकर, व्याध को जो शाप दिया वह छन्दोबद्ध ही था।[2]

छन्द को वेद के षडंगों में स्थान दिया गया है और उसे वेद का पैर माना गया है।[3] काव्यशास्त्र के आदिम आचार्य भरत मुनि के मत

१ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ (गायत्रीछन्द)

२ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (वा० रा०)

३ छन्दः पादौ तु वेदस्य।

से तो सम्पूर्ण वाङ्मय छन्द ही है।[1] काव्य के विषय में तो कहना ही क्या है। उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कथा-साहित्य, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र आदि विषयों को भी सर्वप्रथम छन्दोबद्ध ही रचा गया है। इससे छन्द का व्यापक माहात्म्य तो सिद्ध होता ही है, साथ ही भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों के नियमित और व्यवस्थित रूप की ओर भी स्पष्ट संकेत मिल जाता है। यही कारण है कि क्या लौकिक क्या वैदिक, दोनों प्रकार के ही कवियों ने बड़े आदर के साथ छन्दों को अपनाया। छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग आया है, जिसमें छन्द के अर्थ, प्रयोजन, सामर्थ्य तथा माहात्म्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[2]

१. छन्दों के भेद

छन्द दो प्रकार के पाये जाते हैं—वैदिक तथा लौकिक। वैदिक छन्दों की संख्या सीमित रही है। वैदिक छन्दों में अक्षरों के आधार पर उनकी गणना की जाती है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि छन्द अक्षरभेद से ही भिन्न-भिन्न हैं।

लौकिक छन्द वर्णिक तथा मात्रिक भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं। केवल मात्राओं के आधार पर माने जाने वाले मात्रिक तथा मात्रा और वर्णों की समानावृत्ति पर माने जाने वाले वर्णिक छन्द कहलाते हैं। आर्या इत्यादि मात्रिक और इन्द्रवज्रा इत्यादि वर्णिक छन्द हैं।

२. उपनिषदों में छन्दोयोजना

छन्दों की दृष्टि से जब उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक साहित्य के बीच

---

१. छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्।

(नाट्यशास्त्रम्)

२ देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिरच्छादयन्। यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। (छा० १.४.२)

छन्द इत्यादि की कडी जोडने वाले उपनिषद् ही हैं। वैदिक छन्दों को छोडकर एकदम लौकिक छन्दों की रचना नहीं हुई, अपितु वैदिक से धीरे धीरे लौकिक छन्दों की ओर प्रवृत्ति हुई। यही कारण है कि उपनिषदों में कई एक ऐसे छन्द मिलते हैं जो लौकिक तथा वैदिक छन्द का मिश्रित रूप ही हैं। कुछ एक उपनिषदों में तो लौकिक छन्द वैदिक से एकदम पृथक् हो गए हैं। पर केन इत्यादि उपनिषदों में न वैदिक छन्दों का ही शुद्ध रूप प्राप्त होता है, न लौकिक का। यथा—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।
—केन० १ २

यहां श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् इस पाद में इन्द्रवज्रा छन्द है। किन्तु, अगले पाद वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः में एक वर्ण बढ जाने से इन्द्रवज्रा समाप्त हो गया है।

इसी प्रकार—

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम् । तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥
—केन० ३ ९

इसमें आपातत वैदिक छन्द की प्रतीति भले ही हो, पर उसके लक्षण नहीं घटते। कहीं-कहीं केवल उच्चारण के भेद से छन्द की स्थिति ठीक बैठ जाती है। जैसे—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावाद् आत्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
—श्वे० १ २

यहां केवल द्वितीय पाद में पुरुषेति इस प्रकार छन्द की दृष्टि से होना चाहिए, तथा तृतीय पाद में न तु आत्मभावाद् इस प्रकार पढने पर इन्द्रवज्रा छन्द ठीक बैठ जाता है।

कठ, श्वेताश्वतर, मुण्डक इत्यादि उपनिषदों में कई एक छन्द सर्वथा लौकिक ही प्राप्त होते हैं। उपनिषद्-साहित्य का प्रारम्भ

भी लौकिक साहित्य के समान अनुष्टुप् छन्द से ही होता है। ईश उपनिषद को यदि उपनिषदों में सर्वप्रथम माना जाय, तो निश्चय ही,

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
—ईश० १

यह मन्त्र छन्दोबद्ध ही है।

धीरे-धीरे ऋषियों की प्रवृत्ति गद्य की ओर हुई और फलतः पद्य के साथ गद्य में भी रचना होने लगी। इसका परिणाम यह निकला कि पद्य और गद्य के बीच की रचना न पद्य ही रह सकी न गद्य। वह रचना पद्यात्मक गद्य के रूप में सामने आई, जो आगे चलकर गीति-साहित्य का आधार बनी।

उपनिषदों में उपलब्ध लौकिक छन्दों के कतिपय उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

अनुष्टुप्

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

उदाहरण—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
—ईश० ३

इन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा का लक्षण करते हुए लिखा गया है कि—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

इन्द्रवज्रा में दो तगण, जगण और दो गुरु होते हैं। जैसे—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि,
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः,
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥
—श्वे० ६ ४

यहां यद्यपि प्रथम पाद के अन्त में गुरु होना चाहिए था, पर पादान्तस्थो विकल्पेन के सिद्धान्तानुसार छन्द में आवश्यकतानुसार पादान्त वर्ण ह्रस्व भी गुरु एवं गुरु भी ह्रस्व मानने की मान्यता से यहां कोई दोष नहीं।

उपजाति

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिश्रित रूप ही उपजाति छन्द कहलाता है। कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर में इसके अनेकों उदाहरण प्राप्त हैं। यथा—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं,
ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम॥

—श्वे० ६.६

यहां पहले पाद में उपेन्द्रवज्रा तथा दूसरे पाद में इन्द्रवज्रा होने से उपजाति छन्द है।

इसी प्रकार,

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वा॥

—मु० १ २ ४

तथा,

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो
रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो
जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥

—बृ० ४ ३ १३

इन मन्त्रों में भी उपजाति छन्द है।

वंशस्थ

वंशस्थ का लक्षण इस प्रकार है—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।

उदाहरण—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने,
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

—श्वे० २.१०

जैसे पहले लिखा जा चुका है एक वर्ण के अथवा ह्रस्व, दीर्घ मात्रा के परिवर्तन से उपनिषदों में कई एक छन्दों की योजना ढूंढी जा सकती है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है यहां केवल 'शर्करा' के 'रा' में मात्रा के ह्रस्व होने से छन्द पूर्ण हो जाता है ।

(ग) सूक्तियां

अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।	—ईश० ११
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।	—ईश० १५
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।	—केन० २.४
सस्यमिव मर्त्यं पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुन ।	—कठ० १.६
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।	—कठ० १.१२
अपि सर्व जीवितमल्पमेव ।	—कठ० १ २६
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य ।	—कठ० १ २७
जीर्यन् मर्त्यं क्वधस्थ प्रजानन् । अतिदीर्घे जीविते का रमेत ॥	—कठ० १ २८
न ह्यध्रुवे प्राप्यते हि ध्रुव तत् ।	—कठ० २ १०
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ।	—कठ० २.२२
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य ।	—कठ० २.२३
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।	—कठ० ३ १४
तपसा चीयते ब्रह्म ।	—मु० १ १ ८
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।	—मु० १ २.८
सत्यमेव जयति नानृतम् ।	—मु० ३ १ ६
नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।	—मु० ३ २ ४
अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ।	—तै० १.५
परोक्षप्रिया इव हि देवा ।	—ऐत० १.३.१४
यो वै भूमा तत्सुखम् ।	—छा० ७.२३.१

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि ।	—छा० ७ २६ २
असतो मा सद् गमय।	—बृ० १ ३ २८
तमसो मा ज्योतिर्गमय।	—बृ० १ ३ २८
मृत्योर्माऽमृत गमय।	—बृ० १ ३ २८
अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेन।	—बृ० २ ४ २
पापकारी पापो भवति।	—बृ० ४ ४.५
नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय।	—श्वे० ३ ८

अनुशीलित ग्रन्थ-सूची

BIBLIOGRAPHY

१. प्राचीन साहित्य

१ १ वेद और उपनिषद

अथर्ववेदसंहिता, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् २००१

ऋग्वेदसंहिता, ,, ,, संवत् १९९८

यजुर्वेदसंहिता, ,, ,, संवत् १९९९

सामवेदसंहिता, ,, ,, संवत् २००४

ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्, बम्बई, १९४८

ईशोपनिषद्, श्रीमच्छंकराचार्यकृत भाष्यसहित, गीता-प्रेस, गोरखपुर, संवत् १९९४

एकादशोपनिषत्संग्रह, स्वामी सत्यानन्द, लाहौर, संवत् १९९५

ऐतरेयब्राह्मण, पूना, १९३०

ऐतरेयोपनिषद्, श्रीमच्छंकराचार्यकृत-भाष्यसहित, गीता-प्रेस, गोरखपुर, १९९४

कठोपनिषद्, ,, ,, ,,

केनोपनिषद्, ,, ,, ,,

छान्दोग्योपनिषद्, ,, ,, ,,

तैत्तिरीयोपनिषद्, ,, ,, ,,

प्रश्नोपनिषद्, ,, ,, ,,

बृहदारण्यकोपनिषद्, ,, ,, ,,

माण्डूक्योपनिषद्, ,, ,, ,,

मुण्डकोपनिषद्, ,, ,, ,,

श्वेताश्वतरोपनिषद्, ,, ,, ,,

१२ काव्यशास्त्र

अग्निपुराण, सपा० मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५७

अभिनव भारती, भरत नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्तकृत टीका, सपा० आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली १९६०

अलंकारकौस्तुभ, कविकर्णपूरकृत, सपा० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, राजशाही (बंगाल), १९२६

अलंकारसर्वस्व, रुय्यककृत, जयरथकृत विमर्शिनी टीका सहित, (१) सपा० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९३९, (२) सपा० रामचन्द्र द्विवेदी, (डॉ०), दिल्ली, १९६५, (३) विद्या चक्रवर्ती कृत संजीवनी टीका सहित, सपा० वी० राघवन, (डॉ०), दिल्ली, १९६५

एकावली, विद्याधरकृत, सपा० के० पी० त्रिवेदी, बम्बई, १९०३

औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्रकृत, (१) सपा० आचार्य श्री ब्रजमोहन झा, वाराणसी—१, १९६४, (२) सपा० पण्डित दुर्गाप्रसाद, काव्यमाला-गुच्छक, बम्बई, १९२९

काव्यप्रकाश, मम्मटकृत, (१) सपा० वामनाचार्य झलकीकर, पूना, १९६५ ; (२) सपा० गजेन्द्र गड्कर, १, २, ३ तथा १० उल्लास, बम्बई-७ १९३९ ;
(३) सपा० सुखथणकर १, २, ३ तथा १० उल्लास, बम्बई, १९४१ ;
(४) सपा० रामचन्द्र द्विवेदी (डा०), दिल्ली, १९७०

काव्यमीमांसा, राजशेखरकृत, (१) सपा० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पटना, १९५४, (२) सपा० सी० डी० दलाल तथा प० आर० ए० शास्त्री, बड़ोदा, १९३४

काव्यादर्श, दण्डीकृत, (१) सपा० र० रेड्डी शास्त्री, पूना, १९३८; (२) सपा० ठाकुर तथा झा, दरभंगा, १९५७

काव्यानुशासन, हेमचन्द्रकृत, सपा० पारीख तथा कुलकर्णी, बम्बई, १९६४

काव्यालंकार, भामहकृत, (१) सपा० नागनाथ शास्त्री, तंजोर, १९२७, (२) सपा० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९६२

काव्यालंकार, रुद्रटकृत, नमिसाधुरचित टीकासहित, सपा० म० म० पण्डित दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, बम्बई, १९०९

काव्यालंकारसारसंग्रह उद्भटकृत, प्रतिहारेन्दुराजरचित लघुवृत्तिटीकासहित, सपा० आर० डी० वणहट्टी, पूना, १९२५

काव्यालंकारसूत्र (वृत्ति) वामनकृत, गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालकृत कामधेनुटीका-सहित (१) सपा० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९२२, (२) सपा० बेचन झा, वाराणसी

कुवलयानन्द, अप्पयदीक्षित कृत, सपा० वासुदेव शर्मा पणशीकर, बम्बई, १९३७

ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनकृत, अभिनवगुप्तकृत लोचनटीकासहित, (१) सपा० पट्टाभिराम शास्त्री बनारस, १९४०, (२) उद्योत १, सपा० कुप्पुस्वामी शास्त्री, मद्रास, १९४४

नाट्यशास्त्र, भरतकृत, अभिनवभारती टीका सहित, (१) सपा० एम० रामकृष्ण कवि, बड़ौदा, (२) सपा० पण्डित केदारनाथ, काव्यमालागुच्छक, बम्बई, १९४३

प्रतापरुद्रीय, विद्यानाथकृत, कुमारस्वामीरचित रत्नापणटीकासहित, सपा० वी० राघवन, (डॉ०), मद्रास, १९७०

रसगंगाधर, जगन्नाथकृत, नागेशभट्टकृत टीकासहित, (१) सपा० दुर्गाप्रसाद तथा परब, काव्यमालागुच्छक १२, बम्बई, १९३९,

(२) सपा० बदरीनाथ झा तथा मदनमोहन झा, बनारस, १९५५

वक्रोक्तिजीवित, कुन्तककृत, सपा० सु० कु० डे०, कलकत्ता, १९६१

व्यक्तिविवेक, महिमभट्टकृत, सपा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९०९

शृङ्गारप्रकाश, भोजराजकृत, सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यमालागुच्छक, बम्बई, १९३४

साहित्यदर्पण विश्वनाथकृत (१) १ से ६ परिच्छेद तक, सपा० कविरत्न श्री शिवदत्त बम्बई सवन १९७३, (२) सपा० पी० वी० काणे, १,२ तथा १० परिच्छेद देहली, १९६२, (३) सपा० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य कलकत्ता, १९६२

२. नवीन साहित्य

२ १ हिन्दी ग्रन्थ

गणेशत्र्यम्बक देशपाण्डे भारतीय साहित्यशास्त्र (हिन्दी संस्करण), बम्बई, १९६०

जयशंकर त्रिपाठी आचार्य दण्डी एव संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन, इलाहाबाद १९६८

बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र दो भाग, पटना

बलदेव उपाध्याय संस्कृत आलोचना प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर० प्रदेश १९७०

मातृदत्त त्रिवेदी अथर्ववेद—एक साहित्यिक अध्ययन, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर १९७३

रामजी उपाध्याय प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, इलाहाबाद, १९६६

रामजी उपाध्याय भारतस्य सांस्कृतिकनिधि

रामपाल विद्यालङ्कार क्षेमेन्द्र की औचित्यदृष्टि पटना १९६०

22 English Works

Bhattacharya Sudhisankar *Imagery in the Mahābhārata*, Calcutta, 1971

Bhattacharya, S *Studies in Indian Poetics*, Calcutta, 1964.

Bloomfield *The Religion of Veda*

De S K *History of Sanskrit Poetics*, Calcutta 1960

" *Problems of Sanskrit Poetics*, Calcutta, 1959

" *Aspects of Sanskrit Literature*, Calcutta, 1959

Dwivedi, R C *Principles of Literary Criticism in Sanskrit* (*Papers of a Seminar at Udaipur*, December, 1968), Delhi 1969

Gerow Edwin *A Glossary of Indian Figures of Speech*, the Hague, 1971

Gnoli, R *The Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta*, Varanasi, 1968

Gonda J. *Stylistic Repetition in the Veda*, Amsterdam 1959

" *Epithets in the Rgveda*, The Hague, 1959.

" *Remarks on the Similes in Sanskrit Literature*, Leiden 1949

Hiriyanna, M *Art Experience*, Mysore, 1951

Hume, R E *The Thirteen Principal Upanisads*, Oxford, 1965

Kane, P V *History of Sanskrit Poetics*, Delhi, 1961.

Krishna Chaitanya *Sanskrit Poetics*, Asia Publishing House, 1965

Kuppuswami Shastri, S *Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit*, Madras, 1945

Lahiri, P C *Concepts of Riti and Gunas in Sanskrit Poetics*, Dacca, 1937

Limaye, V P and Vadekar R D *Eighteen Principal Upanisads*, vol. I, Poona, 1958

Mainkar, T G *Some Poetical Aspects of the Rgvedic Repetitions*, Poona, 1966

Masson and Patvardhan *Santa Rasa and Abhinava Gupta's Philosophy of Aesthetics*, Poona, 1969

Masson and Patvardhan *Aesthetic Rapture*, Vol I and II, Poona, 1970

Mukherji Rama Ranjan *Imagery in Poetry: An Indian Approach*, Calcutta, 1972

Nobel J, *The Foundations of Indian Poetry and their Historical Development*, Calcutta, 1925.

Pandey K C *Comparative Aesthetics*, Vol I, Varanasi, 1962

Radhakrishnan, S *The Principal Upanisads*, London, 1953

Raghvan, V · *Bhoja s Śṛṅgāra Prakāśa*, Madras, 1963.

" *The Number of Rasas*, Madras, 1967.

" *Some Concepts of Alaṃkāra Śāstra* Madras, 1942

Raja Kunhan, C *Poet Philosophers of the Rgveda*, Madras, 1963

Rajwade V K *Words in the Rgveda*, Bombay, 1932.

Ranade, R D *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, Poona, 1926

Sankaran S *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit or The Theories of Rasa and Dhvani*, Madras, 1929

Sharma R K *Elements of Poetry in the Mahābhārata*, University of California, 1964

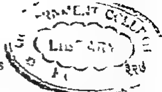
Sherde N J *Kavi and Kāvya in the Atharvaveda*, Poona, 1967

Varma, Mahendra Kumar *Glimpses into the Poetic Beauty of the Rgveda* Astuward Damoh, 1963

3 Articles

Ancient Indian Poetry and Drama—Kalica P Datta, *Prabuddha Bharata*, June 1940

Emotional Similies in the Rgveda and the Concept of Bhakti, *Bharatiya Vidya*, Vol XXV, Nos 3-4, Bombay, 1955 66



Figures of Speech in the Ṛgveda—P. S. Sastri, *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (ABORI)* XXVIII, Poona, 1947

Literary Strata in the Ṛgveda—S.K. Belvalkar, *Proceedings and Transactions of the Second Oriental Conference*, Calcutta, 1922

Ṛgvedic Philosophy of the Beautiful—P S Sastri, *ABORI*, Poona, 1951

Ṛgvedic Theory of Poetry—P S Sastri, *XII All India Oriental Conference (AIOC) Summary*, Banaras, 1943-44

Similes of Atris (*RV* Mandala V)—H D Velankar, *ibid.*, Vol. 16, 1940.

Similes of the Atharvaveda—H D Velankar, *Journal of Asiatic Society Bengal*, (New Series), Vol XXXVIII, 1963-64

Similes of Vāmadevas (*RV* Mandala IV)—H D. Velankar, *Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic Society* (New Series), Vol 14, 1938.

Some Observations on the figures of speech in the Ṛgveda—A Venkatasubbiah, *ABORI*, 17, Poona, 1935-36.

Some Similes in the Ṛgveda, Brahma Vidya, Vol. XXVIII, Pts. 3-4, Adyar, 1964

Studies in the Imagery of the Rāmāyaṇa—K. A. S. Iyer, *JOR* Vols 1-5, Madras, 1927

Syntax of Vedic Comparisons—Abel Bergaigne, *ABORI* Vol XVI, 1934-35.

The Development of figures of Speech in the Ṛgveda—D. R. Bhandarkar, *Kane Commemoration Volume*, Poona, 1941.

The Imagery of Rgveda—P. S Sastri, *ABORI* XXIX, Poona, 1948.

The Poetic Approach to the Divine in the Vedas—A C. Bose, *Prabuddha Bharata*, Calcutta, Dec , 1941

Upanisadic Metre—P G Gopalkrishna Iyer, *JOR* Madras, April, 1927

Upanisadic Prosody—P G Gopalkrishna Iyer, *Proceedings and Transactions of the Fourth Oriental Conference*, Vol. II, Allahabad, 1926

Vedic Symbolism—V. S Agrawal, *Bharati*, Vol VI, Pt. I, Varanasi, 1962-63

विशिष्ट शब्द-सूची

(SUBJECT INDEX)

ऊ

ऋ

ए

भ

म

श

ह

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	छन्दोग्य	छान्दोग्य
५	२६	अनण्वमहृस्व-	अनण्वह्रस्व-
६	३	महृत्व	महत्त्व
२४	३	माधुर्यं	माधुर्यं
३७	२६	प्रयन्त्यभिविशन्ति	प्रयन्त्यभिसविशन्ति
५६	१४	मदुधान्	मदुघान्
६३	१६	मर जाते है	झर जाते है
६६	२७	यन्मूर्नं	यन्मूर्तं
७०	२०	प्रौर	और
१०३	१४	उर्मियो	ऊर्मियो
११४	११	य	य
२३	७	सम्बन्धिातशयोवित	सम्बन्धातिशयोवित
२८	२१	कच	ऋच
४३	२७	बहूभियों	बहुभियों
५३	७	मपमक्रम्य	मुपसक्रम्य
६८	१३	योनि	योनि
८१	१४	भत	भूत
६२	१२	नक्ष्मीर्निहिता	लक्ष्मीर्निहिता
६४	२५	प्रविसस	प्रविस्रस
०१	१२	मिचेने	मिचेते
०४	२२	यक्नु	बक्नु
१२२	४	अमिघामूलक	अभिघामूलक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४२	५	३ २.३	३ २ ५
२७३	६	नपुसक	नपुसक
२८२	६	हो	ही
२८७	१६	विजिधित्स	विजिघत्स
२८७	२७	प्रजायोय ।	प्रजापेयाय
२८८	१५	सव त परादाद	शव त परादाद
२८६	१६	तुम्य प्राण	तुम्य प्राण
२६०	१४	नोमयत प्रज	नोभयत प्रन
३०३	३	महत्व	महत्त्व
३१२	१२	पग पक्षिया	पशु पक्षियों
३१२	२०२१	उससे वेद का	उसे वेद का
३१५	२८	विनियोजयेय	विनियोजयेद
३१५	२६	कृतकम नाग	कृतकमनाग
३१५	३०	कम क्षये	कमक्षय
३१८	६	नवधस्य	नवष स्य
३२५	१	२२५	३२५